* ब्रह्मास्मि - माला *

(हिन्दी टीका सहित)

संग्राहक :

१०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज, ऋषिकेश

प्रकाशक :

हरिकिशनदास अग्रवाल
"वेदान्त सत्संग मण्डल"
प्रेम कुटीर, नरिमान पाइन्ट,
मरीन ड्राइव, बम्बई १.

दो शब्द

पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ प्रातःस्मरणीय अर्चनीय, वन्दनीय परिव्राजकाचार्य ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज ने बम्बई नगरी में जो ज्ञानगङ्गा प्रवाहित की है उसके लिये प्रेमकुटीर में आनेवाले सत्सङ्गी सज्जन एवं बम्बई की जनता चिर कृतज्ञ रहेगी। आपने उत्तराखण्डकी चोटियों से महात्माओं को आमन्त्रित करके धारा प्रवाह सत्सङ्ग चलाया और उसीका परिणाम है कि प्रेम-कुटीर का सत्सङ्ग आज एक अपूर्व सत्सङ्ग माना जाता है। पूज्य श्री स्वामीजी का व्यक्तित्व देश के विद्वत् समाज में सर्वमान्य रहा है।

यह स्वामीजी का ही प्रभाव था कि १९५६ में वेदान्त सत्सङ्ग मण्डल द्वारा समायोजित विराट वेदान्त सम्मेलन आशातीत सफलता प्राप्त कर सका। श्री स्वामीजी की अध्यक्षता में होनेवाले इस सम्मेलन में प्रायः देश के सभी भागोंसे सब समुदायों के विद्वान् और महात्मागण एकत्रित हुए जिनमें एकत्व की भावना पुनः जागृत करने का सफल प्रयत्न किया गया। यह प्रथम अवसर था कि भेदभाव, ऊँचनीच, आसनादि की भावना से रहित सब विद्वान् एक ही मञ्चपर स्वामीजीके नेतृत्व में एकत्रित हुए और परस्पर समता का व्यवहार किया। इसी सम्मेलन में भारत–साधु–समाज का बीजारोपण हुआ।

श्री स्वामीजी महाराज दया और प्रेम की साक्षात् मूर्ति थे। उनकी विद्वत्ता, साधुता, वैराग्य एवं उदारता किसी से छिपी नहीं है। उनका शरीर ८–१२–५८ को प्रातः ४। बजे प्रेमकुटीर बम्बई में शान्त हुआ। बम्बई तथा देश के अन्य नगर के सत्सङ्गी समाज में अन्धकार छा गया। श्री स्वामीजी की भौतिक देह हम लोगों के बीच में अब नहीं है परन्तु उनके दिये हुए उपदेश हमारे कानों में सदा गूँजते रहेंगे। उनका प्रेमकुटीर में बोया हुआ सत्सङ्ग का बीज वृक्षरूपमें परिणत होकर ८ वर्ष का होगया है जिसके ज्ञानामृतफल का सेवन बम्बई की जनता आज भी कर रही है। हमें विश्वास है कि श्री स्वामी जी महाराज के परमाशीर्वाद से प्रेम कुटीर का यह सत्सङ्ग वृक्ष सदा पल्लवित–पुष्पित रहेगा और प्रत्येक को नित्य प्रति इसका लाभ प्राप्त होता रहेगा।

हरिकिशनदास अग्रवाल
प्रमुख
वेदान्त सत्संग मण्डल बम्बई.
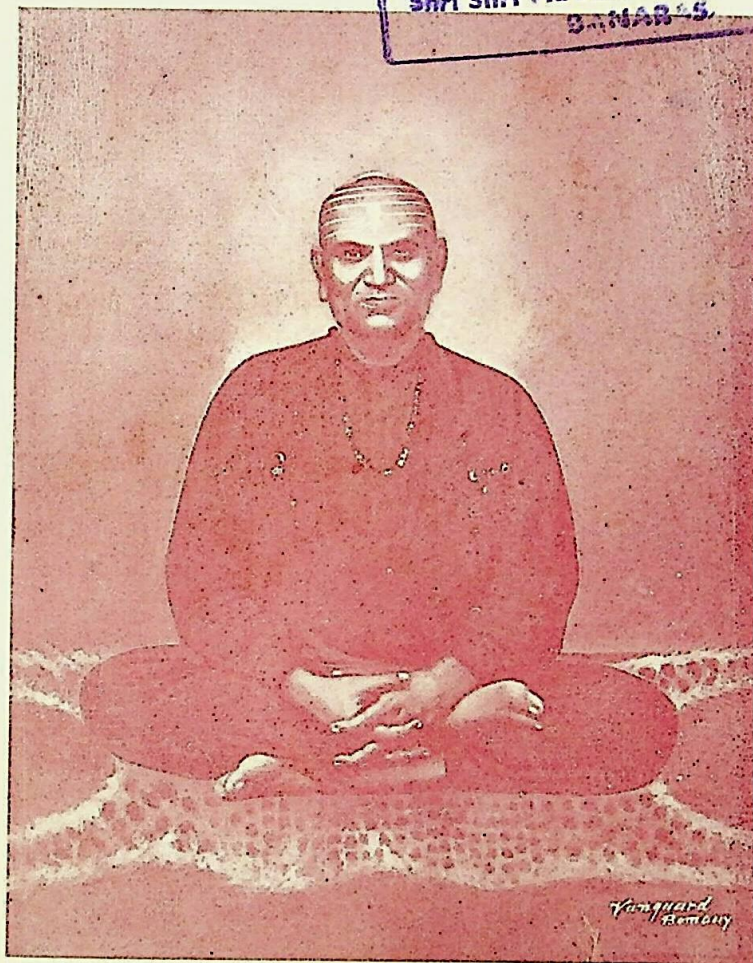
१०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज

स्व. श्री. तुलसीराम देवीदयाल अग्रवाल

स्व. श्रीमती मनसादेवी तुलसीराम अग्रवाल

श्रद्धाञ्जलि.....

ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामी **श्री प्रेमपुरीजी महाराजका** प्रथम लेख मैंने "कल्याण" में पढ़ा था। बादमें दादीशेठ अगियारी लेनके सत्संग भवन में प्रवचन सुना। इसके पश्चात् पेटलादमें एक-दो दिन साथ रहा। इन अवसरोंपर स्वामीजीके समागम और आलापका मेरे चित्तपर केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि वे वेदान्तके प्रकाण्ड विद्वान् हैं, दृढनिश्चयी हैं और संसारके प्रति उपेक्षावृत्ति रखते हैं। कोई विशेष परिचय, सम्बन्ध अथवा प्रीति नहीं हुई। अबसे कुछ वर्षों पहले दैवीसम्पद् मण्डलकी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेनमें जब मेरा बम्बई आना हुआ तब सत्संगी लोगोंने प्रेमकुटीर में आमन्त्रित किया और यहां मुझे वेदान्त पर दो-तीन प्रवचन करनेका अवसर प्राप्त हुआ। इसी समय यह आभास मिला कि स्वामीजी कितने उदार, गुणग्राही एवं सत्पक्षपाती हैं! बात यह हुई कि मैंने अपने प्रवचनोंमें सम्पूर्ण कर्मोंका फल तत्त्वज्ञान ही है, तत्त्वज्ञानका फल कर्म नहीं है इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था। मेरे बाद प्रवचन करनेवाले महात्माने कुछ ऐसा कहा कि तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी कर्म ही कर्तव्य है। स्वामीजी महाराजने बादमें उनके प्रवचनका खण्डन कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि स्वामीजी बड़े ही स्पष्टभाषी, निर्भीक और अनुभवी पुरुष हैं, क्योंकि कर्ता, कर्म और कर्मफलकी असारता जाने बिना कोई भी वैसी बात नहीं कर सकता था। मेरी श्रद्धा बढ़ी, प्रेम बढ़ा और वेदान्त सम्मेलन के अवसर पर मण्डल के उत्साही कार्यकर्ता प्रवीण को भेजकर स्वामीजीने मुझे आमन्त्रित किया। फिर तो स्वामीजी की ऐसी कृपा, आशीर्वाद और प्रेम मुझे प्राप्त हुआ जिसको मैं कभी भूल नहीं सकता। कई बार जब मैं यहाँसे विदा होने लगता था स्वामीजी कुछ-न-कुछ ऐसी बात कह देते थे कि श्रोताओंकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती थी। वे स्वयं भी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गद्गद हो जाते थे और मेरे जैसे कठोर चित्तको भी रुला देते थे। मेरी प्रशंसाके जैसे शब्द वे सभामें कहा करते थे वैसे ही एकान्तमें सत्संगियोंको भी। अभी-अभी जब हम उनके

श्रीविग्रहको गंगाजीमें प्रवाहित करनेके लिए ऋषिकेश गये थे–लाला केदारनाथजीने कहा कि पिछले दिनों जब स्वामी श्री प्रेमपुरीजी महाराज ऋषिकेश आये थे तब हम लोगों से कह गये थे कि "मुझे पचपन वर्ष साधुओंमें रहते हो गये लेकिन ऐसा अनुभवी महापुरुष मैंने कोई नहीं देखा था"।

थोड़े ही दिनों पहले की बात है सौभाग्यवती हेमलता रतनसी खटाऊने मुझसे कहा–"श्री स्वामीजी महाराज मुझसे कह रहे थे कि सत्संगका रस तो मुझे अब मिला है"।

इन उदाहरणोंका अभिप्राय यह है कि श्री स्वामीजी महाराजके हृदयमें मेरे प्रति जो प्रीति थी उसका यह स्पष्ट निदर्शन है। मैं उनसे वयमें, विद्यामें, प्रतिष्ठामें, तपस्यामें किसी भी प्रकार से श्रेष्ठ नहीं हूं; परन्तु श्री स्वामीजी महाराजकी सहृदयता, उदारता और प्रीति जो उन्होंने छिपाकर नहीं रखी थी, सर्वथा स्पष्ट थी, स्मरण करता हूं तब हृदय द्रवित हो जाता है और उनकी मूर्ति मानस में प्रतिबिम्बित होने लगती है। यह निश्चित है कि जब तक अपने शरीरका स्मरण हैं तब तक इनका विस्मरण नहीं हो सकता। यह बम्बईवासी जनताका सौभाग्य और उन महात्माओंका दिव्य अनुग्रह ही था कि उनका सत्संग यहाँ के लोगों के लिए सुलभ हुआ। मुझ पर उनकी इतनी कृपा और प्रीति थी कि एक वर्ष के भीतर ही दो बार वृन्दावन गये और लगभग एक मास तक वहाँ रहे। आते समय मुझसे कह आये–"६ नवंबर तक बम्बई आ जाना और बुलाने की अपेक्षा मत रखना। यह तो अपना घर है, जब मौज हुई आ गये"।

अब जो होना था सो तो हो गया। तत्त्वज्ञ पुरुषका शरीर तो उसी क्षण भस्म हो जाता है जब ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होकर अविद्या और उसके कार्य को जलाती है। वह तो जिज्ञासुजनोंके पुण्य और उनके सौभाग्यसे ही दग्धरथ-न्याय से यावत् प्रारब्ध उनका कल्याण करता रहता है। जन्ममृत्युरूप संसार ब्रह्मज्ञानीका कभी स्पर्श नहीं करता। वह तो अजर–अमर, असंसारी, अखण्ड,

परिपूर्ण ब्रह्म ही होता है। केवल भ्रान्त पुरुषोंकी दृष्टि से हीं आत्मामें कर्त्ता-पन, भोक्तापन, संसारीपन और परिच्छिन्नता सत्य मालूम पड़ती है। ब्रह्मसे अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है और वह अपना आत्मा हीं है। यह आत्मा हीं ब्रह्म है। यही महापुरुष की दृष्टि है।

उन्हीं महाराजश्रीने मुमुक्षु सज्जनों के अहंग्रहोपासन मनन, निदिध्यासन एवं ब्रह्माभ्यास के लिए यह 'ब्रह्मास्मि माला' बनायी है। इसके संस्कृत श्लोक और हिन्दी भाष्य–दोनों ही उनकी रचना हैं। यह तो निश्चित ही है कि जो इस ग्रन्थका अभ्यास करेगा वह परमकल्याणभाजन होगा।

इस ग्रन्थके स्वाध्यायसे श्रीस्वामीजी महाराजके जीवनपर भी प्रकाश पड़ता है। उनके मनमें कोई साम्प्रदायिक भेदभावना अथवा पक्षपात नहीं था। इस मालाके ६१ वें मणिमें वे स्पष्ट रूपसे कहते हैं कि

मन्दिरे मस्जिदे चर्चे सर्वत्र समवस्थितम्।
पक्षपातैरसंस्पृष्टं समं ब्रह्मास्मि सर्वगम्॥

ग्रन्थकर्ताको मन्दिर, मस्जिद, चर्च सर्वत्र समवस्थित ब्रह्मका आत्मरूपसे निष्पक्ष दर्शन होता है। इनकी दृष्टि कितनी स्पष्ट है! यह है उनके शुद्ध हृदयके उद्गार—

ब्रह्मणो मन्दिरं साक्षाद् हृदयं सरलं मृदु।
वाचापि तत्र नाघातं कुर्वे ब्रह्मास्मि हृद्गतम्॥९२॥

प्राणियोंका सरल और कोमल हृदय ही ब्रह्मका साक्षात् मन्दिर है। सबके हृदयमें विराजमान ब्रह्म मैं ही हूं। इसलिये मैं किसी पर वाणीसे भी आघात नहीं करता हूं।

एक अन्य श्लोक में वह कहते हैं कि "जो जगत् पहले क्लेशोंसे भरपूर था वही अब लीला–मन्दिर हो गया है। न मेरा किसीसे विरोध है न किसीके साथ कोई सम्बन्ध है, क्योंकि मैं उनका आत्मा हूं।'

एक स्थान पर कहते हैं–"मैं पूर्णतः कृतार्थ और जीवन्मुक्त हूं"। कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि स्वामीजी महाराजकें स्वरूपको पहचानना हो और परम कल्याण प्राप्त करना हो तो इस मालाको केवल कण्ठमें ही नहीं हृदयमें भी धारण करके इसके अनुसार यथार्थ ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव प्राप्त करना चाहिये।

मैं श्री हरिकृष्णदासजी अग्रवालके इस सत्प्रयत्नका पूर्ण हृदयसे अभिनन्दन और सराहना करता हूं कि वे परमपूज्य श्री स्वामीजी महाराजके निर्वाणमहोत्सवके उपलक्ष्यमें पुनः इस ग्रन्थकी पाँच हजार प्रतियाँ छापकर श्रद्धालु जनतामें लागतसे भी कम मूल्यमें प्रसारित कर रहे हैं और इससे होनेवाली आय वेदान्त सत्सङ्ग मण्डलि को दे रहे हैं। वैसे तो उन्होंने प्रारम्भसे ही श्री स्वामीजी महाराजकी बहुत बड़ी सेवा की है और सेवकोंमें प्रमुख रहे हैं; परन्तु इस अवसरपर उनकी यह सेवा अपूर्व और अमूल्य होगी क्योंकि यह तो ब्रह्मविद्या के अखण्ड प्रकाशसे अविद्याग्रन्थिको भेदन करनेवाली सेवा है। मैं आशीर्वाद देता हूं कि अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा इनकी बुद्धिको जनताके आध्यात्मिक कल्याण–सम्पादन की दिशामें अग्रसर करे और यह इसी प्रकार चिरकाल तक जनताजनार्दनकी सेवामें लगे रहें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्रेम कुटीर
१७७, मरीन ड्राइव, बम्बई १.
१५–१२–५८

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

ॐ

उपोद्घात
और
पूज्य स्वामी श्री प्रेमपुरीजी महाराज का
जीवन-चरित।

(१)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा साक्षात् परब्रह्म है, इस प्रकार के वचनोंसे अपने शास्त्रोंमें गुरुका बहुमान किया गया है, वह यथार्थ है। वेद और शास्त्र गुरुमुखसे ही पढना; समिधा हाथमें ले करके गुरुके शरणमें जाना; तन-मन-धनसे गुरुकी सेवा करनी और गुरु प्रसन्न होकर जब ज्ञान दें तब खूब ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण करके उसका मनन एवं निदिध्यासन करना। यह सब विधि बतलानेमें शास्त्रका क्या आशय है? क्या गुरुलोगोंने आप ही अपने महत्त्वका प्रदर्शन करने-करानेके लिये शास्त्रके अन्दर ऐसे वचनोंकी भरमार करके अपनी उपयोगिता बढ़ा रक्खी है? नहीं, यह बात नहीं है। परमार्थके मार्गमें सत्य प्रयत्न करनेवाले प्रत्येक जिज्ञासुको पग-पग पर गुरुकी आवश्यकताका अनुभव होता रहता है। यही नहीं, सांसारिक कोई भी कार्य करते समय भी मनुष्यको उस कार्यके प्रणेता या अग्रगामी सज्जनोंके अनुभव को देखकर, समझकर और

उनकी सम्मति लेकर ही आगे बढ़ना होता है और तब भी उसमें अच्छी प्रगति प्राप्त की जा सकती है। फिर यह अध्यात्म मार्ग तो अत्यन्त दुर्गम है। इसी लिये श्रुति भी पुकारकर कहती है कि "उठो, जागो, श्रेष्ठ गुरु की सहायता लेकर इस अति दुर्गम, कष्ट से प्राप्त हो सकनेवाले, उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण मार्ग में आगे बढ़कर अमरपद को प्राप्त करलो।" (कठोपनिषद्)। जिसका वर्णन वाणी से हो नहीं सकता, जहां मन-बुद्धि पहुँच नहीं पाते, उस ज्ञानमार्ग का केवल पढ़कर प्राप्त करलेना असंभव ही है।

शास्त्रमें परस्पर विरोधी वाक्योंका प्रयोग प्रायः होता है जैसे—ब्रह्म मनसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, (केनोपनिषद्) ब्रह्म मनसे ही प्राप्त किया जा सकता है। (कठोपनिषद्) जिज्ञासु लोग अपनी समझसे ऐसे वाक्योंका विपरीत अर्थ लगा लें अथवा शास्त्र असत्य बात कहता है, विरोधी अर्थ सत्य कैसे हो सकता है। ऐसी शंकाके फेरमें पड़ जाँय। अतः शास्त्रोंमें आये हुए विरोधी वचनोंके यथार्थ अर्थको करके विरोध परिहारपूर्वक यथायोग्यरूपसे समझा सके तथा मुमुक्षुजनोंके हृदयमें स्फूरित होनेवाली शंकाओंका निश्चित समाधान कर सके ऐसे गुरुवर्योंकी खास आवश्यकता रहा ही करती है। तदुपरान्त जिज्ञासुओंकी रुचि विविध होती है, शक्ति भी भिन्न-भिन्न होती है और अधिकार तो अलग होता ही है। गुरुवर उनके अधिकार, शक्ति, रुचि आदिकी योग्यताको देखकर उसके अनुसार उपदेश देते हैं। इसी लिये शास्त्र पुकारकर कहता है कि गुरु श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। केवल भगवे वस्त्र या अमुक चिन्ह धारण करनेवाले गुरु हो नहीं सकते। किन्तु जिन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका पूरेपूरा अभ्यास किया है, जो जिज्ञासुओंकी शंका-कुशंकाओंका समाधान पूर्ण प्रेमसे करनेका सामर्थ्य रखते हैं, जो जिज्ञासुओंकी योग्यताके अनुरुप सत्य-हितका उपदेश करते हैं

जिन्होंने यह उपदेश अपने जीवनमें स्वयं पचा रक्खा है, जिनकी ब्रह्मनिष्ठा थोथे शब्दमात्रमें ही समाप्त नहीं हो जाती—प्रत्युत् जीवनमें ओतप्रोत हुई रहती है और नित्यप्रतिके निज—व्यवहारिक वर्तन (आचरण) में भी रस—बस होती है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता एवं परमार्थदर्शी महापुरुष ही गुरु होने योग्य हैं। शास्त्रकी यह मर्यादा समझने तथा स्मरण रखने योग्य है।

निष्कामकर्म, भक्ति और ज्ञान, ये तीनों मार्ग मनुष्यके जीवनको उच्चतम बनानेके लिये खूब उपयोगी हैं। इनमेंसे किसी एक मार्गका ग्रहण करने पर दूसरे दोनों भी एकके साथ गौणरूपसे रहते ही हैं. फीर भी इन सबमें ज्ञानमार्ग अति दुर्गम है। संतश्री तुलसीदासजी फरमाते हैं-“ज्ञानको पंथ कृपानकी धारा”। इस ज्ञानपंथके प्रवासियोंमें भी तीन वर्ग हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जिसके कषाय (मल) और विक्षेप कर्म और उपासनासे निवृत हो चुके हैं, ऐसे उत्तम अधिकारीको गुरुदेव कृपा करके ‘तत्त्वमसि’का उपदेश करते हैं। तब थोडे प्रयत्न से ही मनन निदिध्यास करने पर आवरणका भंग, असंभावना—विपरीत भावनाका नाश और “अहं ब्रह्मास्मि” की भावना या “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” की भावना दृढ़ होकर इससे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। परन्तु जो मध्यम अथवा कनिष्ठ अधिकारी हैं. जिनके मल एवं विक्षेप पूर्णरूपसे नष्ट नहीं हुए हैं, जिनको गुरुमुखसे “तत्त्वमसि”का उपदेश मिलनेसे अज्ञानके असत्त्वापापक अंशकी निवृत्ति होने पर भी अभानापादक अंशकी तथा विपरीतभावनाकी निवृत्ति तत्काल नहीं हो सकी है। परिणाममें मैं ब्रह्म हूं या नहीं? अमुक शास्त्र द्वैतका प्रतिपादन क्यों करता है? मैंने जो कुछ समझा है वह यथार्थ है कि नहीं इत्यादि अनेक शंकायें जिनको होती हैं, उन्हें गुरुके चरणोंमें बारंबार जाना और अपनी शंकाओंका समाधान प्राप्त करना पडता है।

जिज्ञासुको गुरुदेव प्रेमसे उपदेश देते हैं कि बच्चा तू अभी उत्तमाधिकारीकी श्रेणीमें आया नहीं है, अतः तू श्रवणमें लगा रह और मनन–निदिध्यासनमें ओतप्रोत बन। यह तो अनुभवका शास्त्र है, नगद धर्म है, अनुभव करके देख तुझे स्वयं निश्चय हो जायगा, ऊबना मत।

शिष्यके हृदयमें प्रकाशकी एक झलक आ गई, ज्ञानरुपी विद्युत्का चमत्कार हो गया. परन्तु वह ज्ञान-प्रकाश स्थिर न रह सका "अहंब्रह्मास्मि"का निश्चय दृढ न हो पाया। जब वह अपने अन्दर दृष्टि डालता है तो घबरा ऊठता है,. उसे अपने अन्दर आसुरी संपत्तिकी खाने भरी पडी हो–ऐसे लगता है,, बस यहींसे कुरुक्षेत्र शुरु हो जाता है। उसके हृदयमें गुप्तरूपसे छुपकर पड़ी हुइ आसुरी भावनायें, जिन्होंने कि वहीं थाना जमाकर जीवको कब्जेमें कर रक्खा था, ज्ञानाग्निकी दिव्य चिनगारीको देख कर घबराती हैं, गुस्से होती हैं। उन्हें लगता है कि यह जीव हमारे अज्ञानसाम्राज्यमें से छटक जायगा. अतः अज्ञान और अज्ञानके भाई-बन्धु सभी मिलकर एक ही साथ उस जीव पर चारों ओरसे टूट पडते हैं, हमला कर देते हैं। इस आकस्मिक आक्रमणसे जीव विह्वल हो उठता है, एक आसुरी वृत्तिको दबानेका पुरुषार्थ करता है तब तक दूसरी और दूसरीमेंसे असंख्य आसुरी वृत्तियाँ पैदा हो जाती हैं। जीवको लगता हैं कि मैं इन सबको दूर कैसे हटा सकूंगा? तात्पर्य कि अब तक जो अपने आपको दैवी सम्पत्तिवाला मानता था, वह "जो दिल खोजा आपका, मुझसा बुरा न कोई।" इस न्यायसे मेरे अपने अन्दर ही इतने दुर्गुण भरे पडे हैं कि इनका निकलना कैसे हो सकेगा? इस विचार-वमलमें उलझ पड़ता है। और भी इन्द्रियोंको बाह्यभोगोमें रत रहनेकी आदत पडी हुई है। वे उसे बाहिरके भोगोंकी तरफ खींचती हैं, सगे-सम्बंधी भी ललचाते हैं, डराते भी हैं। इस तरह जीवको

चारोंओरसे आधमकनेवाले खूब ही भयंकर विरोधका सामना करना पड़ता है। मार्ग नया है, विश्रान्ति कहां मिलेगी-इसका पता नहीं. ऐसी विकट परिस्थिति, भयंकर विटंबनायें एवं आसुरी भावनाओंसे ऐसी मुसीबतोंसे मुक्त होनेके लिये गुरुकी शरण खोजता है—"गुरुदेव! मार्ग दीखता नहीं है, भयंकर उल्कापात और झंझावातमें फंसा हुआ हूं—ऐसा लगता है। कृपा करके योग्य मार्ग बतलाइये"। गुरु कहते हैं—"बेटा! तेरी बात सचमुच सत्य है. मार्ग दुर्गमसे भी अतिदुर्गम है फिर भी कभी-न-कभी वहां पहुँचना तो अवश्य है, नहीं तो मानव-जीवनकी श्रेष्ठता ही क्या रही? ईश्वरके मार्गमें ज्ञानपथ पर आरूढ होकर अपने स्वरूपको आप ही न पहचाना तो मानवदेह निष्फल धारण किया"। शिष्य बारंबार जख्मी या हताश होकर गुरुकी शरण साधता है और गुरु उसे एक या दूसरे प्रकारसे आश्वासन देते हुये आगे बढाते हैं, उसे हिम्मत देते हैं, उसकी शंकाओंका उचित समाधान करते हैं। ऐसे मौके पर ही तो गुरुकी पूरेपूरी आवश्यकता जिज्ञासुको प्रतीत हुआ करती है।

हमारी यह खुशनसीबी है कि ऐसे एक अनुपम, अद्वितीय और सर्वश्रेष्ठ गुरुप्रवरकी प्राप्ति हमें हुई है। ईश्वरकी कृपा आत्मकृपा आदि सभी कृपाओंमें गुरुकृपा मुख्य है और उसमें भी ऐसे हलाहल कलिकालमें सकलशास्त्रसम्पन्न श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ तथा शास्त्रोंमें प्रतिपादन किये हुये सच्चे गुरु मिलना दुर्लभ है. तथापि सद्भाग्यसे इस "ब्रह्मास्मि माला"के कर्ता, हमारे गुरुजी, १०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्य स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज समान सन्तरत्न हमें मिल गये हैं। पारस तो केवल लोहेको ही सुवर्णरूपमें परिणत कर सकता है,. परन्तु ऐसे दिव्य पुरुषका एक क्षणिक प्रसंग भी हर कीसीको पारसमें रुपान्तरित करके जन्म-जन्मान्तर के बन्धनों को काट डालता है। यही तो सन्तपुरुषोंकी खास लाक्षणिकता

है । पूज्य स्वामीश्रीका जीवन मानो, जिज्ञासुओंको साक्षात् वैराग्यका बोध देता हो ऐसा दिव्य है । सरिता अन्तमें अनन्त सिन्धुमें जा मिलती है वैसे ही स्वामीजीकी जिवनगंगा भी अनेक गड्ढे-टेकरे लांघती हुई अन्तमें निरवधि प्रभुप्रेमके क्षीरसागरमें-ज्ञानान्दोदधिमें जा समाती है । यही तो अपने आर्यजीवनकी विशेषता है, इतिश्री है। स्वामीजीका जन्म सौराष्ट्रदेशान्तर्गत ओलनामके ग्राममें विक्रम संवत १६३८ के पौष मासकी (गुजराती हिसाबसे) कृष्णपक्षीय तृतीया शनिवारको हुआ था । स्वामीश्रीका पूर्वाश्रमका नाम था मानशंकर। स्वामीजीके पिताजीका नाम विठलजी शुक्ल तथा माताजीका नाम केसरबाई था।

शुक्लकुटुम्ब मूलसे ही खूब धार्मिक भावनावाला तथा उच्च आदर्शके लिये सर्वस्वको कुर्बानकर देनेकी तमन्नावाला था । श्रीमान् मानशंकरभाई के पितामह (दादा) इन्द्रजी सुन्दरजी शुक्ल उच्चकोटीके विद्वान् होनेके अतिरिक्त एक अच्छे कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे । वे शुक्ल होनेके नाते ब्राह्मणजातिके ही पुरोहित थे और ब्राह्मणकौम सिवाय दूसरे किसीका भी प्रतिग्रह कबूल नहीं करते थे । उस समय ओलस्टेटके राज्यकी गद्दी पर ठाकुर साहब जेसंग (जयसिंह) जी थे । उन्होने इन्द्रजी शुक्लकी विद्वत्तासे आकर्षित होकर अपने यहांके शास्त्रीय या धार्मिक कर्मोंको करने के लिये शुक्लजीको आमंत्रित किया, परन्तु इन्द्रजी शुक्ल शुद्ध ब्राह्मणवृत्तिसे रहनेवाले थे और ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य किसीका भी प्रतिग्रह लेते न थे, अतः उन्होंने राजा साहबके आमंत्रण को स्वीकार नहीं किया । राजा साहबने कहला भेजा कि हमारे एकाउन्टेन्ट जनरल वजुभाई (विजयशंकरभाई) जो नागर गृहस्थ (अयाचक ब्राह्मण) हैं, वे ही आपके सामने यजमानके रूपमें उपस्थित होते रहेंगे और दक्षिणा भी उन्हीके हाथसे आपको मिलती रहेगी, ताकि आपकी प्रतिज्ञाका भंग न होगा । इस तरह भी शुक्लजी

संमत न हुए और अपने निश्चयमें अडिग रहे । राजा साहबके आमंत्रणका अस्वीकार उन्हें अनादर प्रतीत होगा और वे कदाच नाराज़ होंगे-ऐसा मान कर वे सहकुटुम्ब रातोरात वतन (ओल) का त्याग कर राजकोट आ बसे ।

शुक्ल इन्द्रजीके तीन सन्तानें थी, दो लड़के एवं एक लड़की । उनमें बड़े पुत्र विठलजी, छोटे भवानीशंकर तथा पुत्री शिवकुंवरबाई थी । विठलजी शुक्लके मानशंकर, जटाशंकर, नर्मदाशंकर, रविशंकर तथा पुत्री गिरिजाबहिन; ये पांच संतानें थीं । शुक्ल इन्द्रजीके छोटे पुत्र भवानीशंकर शुक्लके दो लड़के, एक तो डॉक्टर शिवकुमार ओर दूसरे हरकान्त, जो हालमें सौराष्ट्रसरकारके होमडिपार्टमेन्टमें हैं और एसेम्बलीके मेम्बर भी हैं । इन्द्रजी शुक्ल जैसे विद्वान् थे वैसे ही वैराग्य-शील भी थे और शास्त्राज्ञाका पालन यथावत् करते रहते थे । अतः उन्होंने गृहस्थाश्रम भोग लेने पर यथा योग्य वानप्रस्थाश्रम भोगनेके लिये काशीमें रहनेका निर्णय किया, थोडे वर्ष वहां रह कर बद्रीनारायणकी यात्राकी और फिर संन्यास लेकर जीवनभर काशीवास किया । वहां उनकी सेवाके लिये मानशंकरभाई उनके साथ गये, काशीमें उनके साथ आठ वर्ष रह कर उनकी उन्होंने सेवा की एवं अपना पठन भी चालु रक्खा । इस दरमियान मानशंकर भाईके अन्दर शुरुसे ही रहे हुए त्याग-वैराग्यके बीज पल्लवित-पुष्पित होकर विशेष दृढ बनें । उनका अभ्यास गुजराती ६ श्रेणी तक ओल तथा राजकोटमें हुआ था और उस समय की प्रथाके अनुसार उनका विवाह १३ वर्षकी उमरमें हडियाणाकी प्राणकुंवर-बाईके साथ हो चुका था । उनसे उन्हें एक कन्या कमलागौरी हुई थी उसके बाद एक पुत्र हुआ जो ३ दिनका होकर गुजर गया और उसके बाद थोडे ही समयमें प्राणकुंवरबाईका भी स्वर्गवास हो गया ।

मानशंकरभाई संस्कारी कुटुम्बके धार्मिक वातावरणमें पले-पोषे तो थे ही,

तदुपरान्त दादाजीकी वानप्रस्थ एवं संन्यासावस्थाके समय उनकी सेवामें ८ वर्ष रह चुके थे, अतः वैराग्यके बीज तो प्रथमसे ही उनके हृदयमें थे और संसारकी असारताका ख्याल भी पूरेपूरा था। उसमें पुत्र तथा पत्नीके अवसानने अनुकुलता कर दी, वैराग्यबीज अंकुरित हुआ, असारताका ख्याल विकसित हुआ और उनका हृदय संसारसे उपरत हो गया। स्नेही-सम्बन्धियोंने दूसरा विवाह करनेके लिये खूब ही दबाव डाला, उनकी उमर भी उस समय वीसेक वर्षकी होगी। भरयुवानी, तन्दुरूस्त शरीर, २ वर्षका कन्यारत्न, आज्ञाकारी ३ भ्राता, एक बहीन, प्रेमल पिता आदि सुखी कुटुम्ब-यह सब होते हुए भी संसारकी माया उन्हें ललचा न सकी।

इसके बादका उनका जीवन चरित हम सबके खूब ही अधिक आग्रहको मान देकर पूज्यस्वामीजीने अपने करकमलोंसे उपदेशरूपमें कृपा करके लिख दिया है, जो इसके साथ दूसरे भागमें दिया जा रहा है।

पूज्य स्वामीजीके पूर्वाश्रमका पता उनके गृहत्यागके बाद लगभग ४२ वर्ष तक किसीको भी मालूम न था। उनकी ओरसे उनके इष्टमित्रोंको किसी प्रकारकी सूचना, समाचार, या पत्रादि कुछ भी मिलता न था तथा इष्ट-मित्रोंने शक्तिभर खोज की, परन्तु सब कुछ व्यर्थ। विक्रम संवत २००१ सालमें चातुर्मास्यके लिये लेडी लक्ष्मीबहीनके वहां बम्बईमें पधारने पर एक जिज्ञासुको अकस्मात कुछ ख्याल हुआ। वह जिज्ञासु पूज्य स्वामीजीके पूर्वाश्रमके निकटके सम्बन्धी थे। उन्होने स्वामीश्रीके छोटे भाई जटाशंकरभाईको जूनागढ़ (सौराष्ट्र) से बुला लीया और उसके बाद ही स्वामीजीके संन्यास ग्रहणादिका ज्ञान स्वामीजीके कुटुम्बिजनोंको हो सका।

यह 'ब्रह्मास्मिमाला' पूज्य स्वामीश्री प्रेमपुरीजी महाराजजीकी कृति है। इसे छपवा कर प्रकाशित करनेवाले, वेदान्त-सत्संग-मण्डलके अध्यक्ष, भाईश्री हरिकृष्णदासजी अग्रवालके पूज्य पिता तुलसीरामजी अग्रवाल देवीदयाल एण्ड सन्स वालोंका हम हृदयसे आभार मानते हैं और पूज्य स्वामीजीके लिये तो-"साचा ये सन्तने हो लाख लाख वन्दना" करके विरमते हैं।

गोकुल निवास,
चोपाटी सीफेईस,
बम्बई ७.

'वेदान्त-सत्संग-मण्डल' की ओरसे
हरिलाल बी. ड्रेसवाला
का जयगुरुदेव।

"मेरी जीवन-रेखा"

(२)

संग्राहक:-स्वामी प्रेमपुरी।

विषय-प्रवेश

स्वयं मुझे मेरे सम्बंधमें कुछ भी लिखना चाहिये इसका भान मुझे नहीं था, कईएक प्रेमी सज्जनोंने वह कराया। पूर्वाश्रमके अमुक स्नेहिजन, मित्रगण, मुमुक्षुवर्गके जिज्ञासु आदि सभी बहीनों तथा भाइयों की तीव्र इच्छा है कि "मेरी जीवन-रेखाका आलेखन मुझे अपने निजी हाथसे करना चाहिये, खास करके उत्तरावस्थाकी साधनावस्थाका वृत्तांत तो अवश्य लिखना चाहिये और वह भी मेरे ही मारफत।" इस इच्छाको पूर्ण करने के लिये सभीने आग्रह शुरू किया, यही नहीं, प्रत्युत् सतत चालु रक्खा। ऐसे स्नेह-सराबोर अनुरोधकी उपेक्षा करने जितनी हिम्मत मैं अभी तक अर्जित नहीं कर सका हूं-अत एव अनिच्छासे भी इस आग्रहके आधीन होना पड़ता है। उपरोक्त इच्छाको मान देनेके लिये थोड़ा सा लिखनेकी प्रेरणा हुई है। अन्तरात्मा जो लिखावे सो लिखना है। सबके साथी और घटघटके वासी सर्वात्मा इस लेखसे प्रसन्न हों।

पितामह की सेवा

वानप्रस्थ या संन्यस्त आश्रमको उज्वल रखना हो तो घरद्वारसे दूर रहना चाहिये, कुटुंबकबीलेसे अलग रह कर ही इन आश्रमोंकी मर्यादा सांगोपांग सुरक्षित रक्खी जा सकती है। ऐसी मान्यताके कारण शरीरसे खूब वृद्ध होने पर

भी इस शरीरके पितामह (दादा) ने तीर्थयात्राकी तैयारी कर ली। सद्भाग्यकी बात हुई कि सेवाके लिये सेवकरूपसे साथमें रखनेको इस शरीरको ही पसन्द किया गया। सेवाके निमित्त से आठेक वर्ष उनके निरंतर सहवासका सौभाग्य सम्पन्न हुआ। यद्यपि सेवाका उद्देश्य मुख्य था, तथापि काशीनिवास दरमियान फालतु समयमें विद्याभ्यास भी होता रहता था। चोविसों घंटे दादाकी छायामें रहना; अतः सीखना तो सारासमय था, था और था ही। उनके पास आने–जानेवाले साधु–सन्तोंके दर्शन, वर्तन, वातें वगरहसे भी सीखनेको खूब मिलजाया करता था। उनके प्रतापसे अन्य महात्मा, भक्त, तपस्वी, विद्वान आदि गण्यमान्य सज्जनोंके समागमसे भी जब तब सीखनेको मिलता ही रहता था। इस तरह दिन–रात बस, सीखना, सीखना और सीखाना ही होता रहता था। सीखनेवाला भले मुक जाय, पर सीखना तो मुकता ही नहीं था। क्या ही अमूल्य समय था? विद्यार्थि–अवस्थाका उत्तम–से–उत्तम समय था वह। हाँ, उस अपूर्व परिस्थितिका सम्पूर्ण लाभ लिया जा सके, उतनी कुशलता तो उस समय नहीं थी, फिर भी ज्ञानके खजाने में खासी वृद्धि होती हो–ऐसा तो उस समय भी लगता था।

सेवाका फल

यों निर्दोष आनन्दमें समय कहां सरक जाता, उसकी गतागम न रहती। दैवको ईर्षा आई, अकस्मात् रंगमें भंग पड़ा, दादाका शरीर शिथिल हुआ शरीर वृद्ध एवं जरजरित तो था ही, उसमें भी संन्यासि–जीवनके कठोर नियमोंका कडकाईसे पालन, इस लिये शरीर अधिक घिस गया था। दादाको दिखा कि शरीर अब रहैगा नहीं, प्राण ब्रह्मलीन होनेकी तयारीमें है, तब वे सिद्धासन बांधके बैठ गये। मुझे समीप बुलाया, बिठाया, उनका वृद्ध एवं वरद हस्त मेरे

मस्तक पर फिरने लगा। मानो, प्यार करते धापते ही न हों, उसप्रकार अपने वात्सल्यमय हाथसे मेरे मस्तक को अपनी छातीसे चिपकाने लगे। कुछ देर यों करते रहै, पश्चात एकाएक गंभीर बन गये। धीरें रह कर कहा–"देखो बच्चा! अब यह देह घडी-दो-घडीका महेमान है, तेरे पाससे सदाकी विदा लेनेके लिये आतुर बना है, अच्छे-से अच्छा काम करनेके लिये जानेवाले किसी प्रेमीको जिस भावसे विदा देते हैं उस भावसे विदा दे। विदाके वख्त, तेरी सेवाके भारको हलका करनेके लिये यह देह दो बोलके रूपमें विदाकी सीख देना चाहता है। तो सुननेके लिये सावधान हो जा। उस समय सावधान रहना कितना कठीन है, इसका पता मुझे उस समय ही लगा। मेरे पास जितनी धीरज थी उतनी सब एकत्रित करके महामुशीवतसे किसी प्रकार मेने हिम्मत की, बरसती आंखोंसे दादाजीके चरणमें मथ्था टेका। "सावधान हूं दादाजी! कहिये, क्या कहना है?" कह कर मैं आशाभरी दृष्टिसे दादाजीके मुखकी और ताकने लगा।

पितामहका उपदेश

दादाजीने अपने वचनामृतकी प्यालियां कानद्वारा मेरे घटमें उडेलना शुरू किया–"भगवानको भूलना मत, सत्यको छोड़ना मत, सम्पत्तिमें फूलना मत, विपत्तिमें मुर्झाना मत, भोगमें लिपटना मत, त्यागमें बहजाना मत, व्यवहारमें लुभाना मत, परमार्थमें रुकना मत, किसी मौलिक विचारको आचरणमें उतारनेके लिये साहस करना पडे तो डरना मत, प्रत्येक विषयका परिच्चण रागद्वेषसे परे रह कर बारिकी तथा होशियारीके साथ विवेकपूर्वक करते रहना, सबके साथ मिठा बोलना, मिठा संबंध रखना, सबके सामने उस दृष्टिसे देखना जिस दृष्टिसे अपने आपको देखते हों सबके साथ एक होनेका प्रयत्नकरते रहना, ईश्वरने सबको चलनेके लिये एक ही धरती दी है, श्वास लेनेको

एक ही वायु दिया है, उठने-बैठने (हिरने-फिरने) को एक ही आकाश दिया है, जीवनके लिये एक ही जी दिया है, एक ही आत्मा दी है, एक ही हृदय दिया है और सबके साथ एक होनेकी भावना दी है; तो प्रभुकी इस बक्षिसका सदुपयोग करते रहना। सबको अपना दूसरारूप समझना; सब रूप प्रभुके ही हैं, उनका एकरूप स्वयं तू है, दूसरा रूप खुद मैं हूं और तीसरा रूप सब कोई है, अपन सब प्रभुके ही रूप हैं और इस अनुभवका आनन्द लूटनेके लिये ही मानव जन्म मिला है–इसे सफल कर लेना। सबके हितमें ही अपना हित समझना–इसीमें ही मानवकी मानवता समायी हुई है; बाकी संकुचित स्वार्थवृत्ति तो प्राणिमात्रमें स्वभावतः है ही।"

बोलते-बोलते दादाजीकी दुर्बलता बढ रही थी, श्वासोछ्वासकी गति तीव्र होती जा रही थी। दादाजीने चुप्पी साध ली, आँखें बंद कर थोडी देर शान्ति ली। विश्रान्तिमेंसे नूतन बल मिल गया हो–यों स्वस्थ होकर फिर अमृत पिलाना प्रारम्भ कर दिया–"मनमें जो–जो विचार आवे उन सबका संबंध प्रभुके साथ रखनेके लिये प्रयत्नशील रहना। जो–जो कार्य करे उन सबको हृदयमें बैठ कर प्रभु ही करा रहा है–इस भावसे करते रहना। याद रखना कि जो कोई काम ऐसी भावनासे हुआ कि जिसमें किसी भी प्रकारकी कामना न थी अहंकार नहीं था, कर्तृत्व न था तो उसमें सत्यका वास है। ईश्वरार्पणकी निष्ठासे कर्तव्यबुद्धिपूर्वक, निष्कामभावसे कर्म करता रहेगा तो उसके प्रभावसे तेरा अन्तःकरण पवित्र हो जायगा,. फिर उसमें रागद्वेष या हर्ष-शोककी कल्पना ऊठने भी न पायगी। पवित्र बने हुए अन्तःकरणमें ही ज्ञान-सूर्यका उदय होता है और वह अज्ञान-तिमिरका विलय करता है। वायुद्वारा बादलोंका आवरण दूर होता है तो उसमें छिपा हुआ सूर्य चमक ऊठता है, नया पैदा नहीं होता;

वैसे ज्ञानद्वारा अज्ञानका आवरण अलग होता है और अन्तरमें छुपा रहा आत्मा-नंदका झरा फूट पड़ता है नविन उत्पन्न नहीं होता । पृथिवीके पेटमें जलके झरने तो बहते ही रहते है । कूप खोंदना यानि मिट्टी, मोरम, पत्थर, बालू आदि उपरका आवरण अलग करना-इतना ही., आवरण हटा कि बुद-बुद करता झरना फूट पड़ा और कूपको छलका दिया, बस इसी तरह अज्ञान गया कि सुखकी भूखका कूप भरा । अज्ञानसे ही सुखके बदले दुःख दीखता है । जैसे मृगजल की मछली, उसका कद-कलेवर, मछिमार, झाल, झालमें फसना-छूटना यह सब मृगजलसे जुदा नहीं है., उसी प्रकार जीव, जिन्दगी, बन्धन, मोक्ष–यह सब भी अज्ञानसे अलग नहीं है और जैसे प्रकाशमय सूर्यमें अन्धकार था नहीं, है नहीं तथा होगा भी नहीं, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मामें अज्ञान तीनकालमें है ही नहीं ।"

"मेरी इच्छा मुझसे भिन्न नहीं है, जब कभी भी होती है मुझे ही होती है, मेरी होकर ही रहती है, मेरे विना अकेली स्वतन्त्ररूपसे नहीं रह सकती., अतः मुझसे भिन्न नहीं । जो भिन्न हो तो मेरे विना, मेरे अभावमें भी रह सकनेमें बाधा न आनी चाहिये,. परन्तु ऐसा होता दीखता नहीं, अतः मुझसे भिन्न नहीं, अभिन्न ही हैं । इससे विपरीत मेरे लिये ऐसा नियम नहीं है कि मुझे इच्छावाला होकर ही रहना चाहिये, मैं तो इच्छाके विना भी रह सकता हूं, इच्छाके अभावमें तो उल्टा अच्छी स्थितिमें होता हूं., तात्पर्य यह कि मैं ईच्छासे अलग हूं–सर्वथा भिन्न हूं । सच पुछो तो इच्छा है ही नहीं, मैं–ही मैं हूं । इसी प्रकार अज्ञान मेरा है, मैं अज्ञानका नहीं । वह मेरे विना रह सकता नहीं, मैं उसके विना भी रह सकता हूं; अतः अज्ञान मुझसे भिन्न नहीं, मैं उससे सर्वथा भिन्न हूं । तात्पर्य कि अज्ञान है ही नहीं, मैं ही हूं । यह जो कुछ देखने, सुनने या समझनेमें आता है वह सब मैं ही हूं, मेरा ही दूसरा रुप है ।

ऐसा ज्ञान दृढ होगा तो तू पूर्ण सुखी हो जायेगा। दुःख तथा दुःखका कारण राग, द्वेष, भय आदि कुछ भी न रह जायगा,. क्योंकि इन सबका आधार था अज्ञानने कल्पना कराया हुआ द्वैत। ज्ञान आया, अज्ञान गया, द्वैतको भी लेता गया,. फलतः दुःख एवं दुःखके साधन भी निराधार होकर निकल जाँयगे और तू निखालिस सुखरूपसे–अविनाशी आनन्दरूपसे स्वस्थ रहेगा।"

"इस उपदेशामृतको मैं फूटे पात्रमें नहीं उढेलता,. किन्तु सुवर्णपात्रमें सुरक्षित रखता हूं। मैं तो इस अमरफलके बीजको तेरे हृदयकी उर्वरा भूमिमें बोता हूं। मुझे पूर्ण आशा ही नही, पक्का विश्वास भी है कि तू मेरे उपदेशको यथाशक्ति आचरणमें उतारकर जीवनको धन्य बना लेगा।"

दादाजीकी विदेहमुक्ति-मेरी गृहप्राप्ति

दादाजीकी वाणी बीच–बीचमें विस्खलित होती जा रही थी, आवाज रुंध जाता, कण्ठ जबाब देता, इन्द्रियाँ विकल बनती। इस शिथिलताका सामना सारी शक्तिसे होता था। दादाजी रुक–रुक कर फिर बोलनेका प्रयास करते जाते थे। मानो, ज्ञानका वारसा इसी घड़ी एकमुष्ठ सुपुर्द कर देनेका निर्णय कर चुके हों। ज्यों–ज्यों श्रम बढ़ता रहा त्यों–त्यों आवाज कम होता गया, शक्ति क्षीण हुई, दैवने दगा दिया, बोलना बन्ध हुआ। दादाजीने हमेशाँके लिये मौन ले लिया। दादाजी ब्रह्मलीन हुए, विदेहमुक्त बने।

दादाजीकी विदेहमुक्ति, यह मेरे लिये वियोगका असह्य आघात। मेरे जीवनका ध्येय, मेरी सेवाका सहारा, अरे, मेरा सर्वस्व, मेरे हाथोंमें से मेरी सावधानीमें ही छिन लिया गया। मैं फटी आँखों देखता रह गया। मेरी दशा, दयाजनक थी, क्रूर कालमें दयाका छिंटा भी नहीं था। रे काले मर्त्यका मानव

तेरी विवशताका विचार कर । निराशाकी बाढ़में डूबते-उतराते और वियोगकी असह्य चोटने शिथिल कर डाले हुए मेरे हृदयको कर्तव्यभानसे कठिन होना पड़ा। जिनके चरणोंमें मेरा अपार प्रेम था, श्रद्धा थी, पूज्यभाव था, उन्हीके देहको मेने अपने निष्ठुर हाथोंसे छाती पर पत्थर बांधकर गंगामें डूबा दिया । संन्यासाश्रमके नियमानुसार दादाजीके ब्रह्मीभूत संन्यासी-शरीरको गंगामैयाकी गोदमें पधराने आदिकी सभी उत्तर क्रियायें करके गमगीनभावसे गंगामाताको नमस्कार किया, भारी हृदयसे काशी छोड़ी और अधीर पगसे मैं घर पहुँचा ।

किसी संन्यासी बने हुए पितामहने अपने पौत्रकी पीठको ममताभरे हाथसे थपकते हुए इस तरह उपदेश, आदेश या आशीर्वाद दिया हो ऐसा उदाहरण विरल ही होगा ।

मरी मोहांधता

घर पहुँचनेके पश्चात् गृह तथा गृहिणीमें मुग्ध होना स्वाभाविक था । सात्त्विक रोटी देता रहे-ऐसा घर था, सन्तोषी तथा प्रेमल घरवाली थी, सन्तती थी, बहीन थीं, भ्राता समान भ्राता थें, अन्य सगे-सम्बन्धी थे, स्नेही थे, योग्य उमर थी, सुख थां, सन्तोष था, शान्ति थी, मोजमें दिन कहां निकल जाते थे, कुछ हौश न था । समय चैन तथा अमनमें आगे कूच कर रहा था, मुग्धता पल-पल पर पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हो रही थी, दादाजीका उपदेश विस्मरणकी खोहमें दफनाने के लिये सर्जित हुआ हो-यों नीरसतामें विरत हो रहा । मोहके मजबूत गढ़के सामने उपदेशका थोथा टिक न सका । मोहांध मन मानने लगा कि इस प्रत्यक्ष सुखको छुड़ा कर उस काल्पनिक सुखके पीछे पागल बनानेवाला वह उपदेश ही कोई पागल मगजकी बुद्धिमानी है । पांचो इन्द्रियां

द्वारा अनुभव किये जानेवाले विषयोंको मिथ्या मान कर वैराग्यके वहेममें पड़ना तो जान-बूझके अपने आपको ठगना है। सर्वसाधारणको स्पष्टरूपसे दीखता, परखाता, प्रतीत होता जगत् असत्य है और जो कि बड़े बड़े तत्त्वर्शियोंको भी संदिग्धरूपमें भी नहीं दीखा, न परखाया और न प्रतीत हो सका वह ब्रह्म सत्य है-ऐसा मानना-मनाना, कहना-सुनना वह तो निरी धोखेबाजी ही है। "अहह गहनो मोहमहिमा।"

प्रभुकी कृपा

इस पापकी छाया कुदरतकी छातीके साथ टकराई, कुदरतकी कोपिली आँख फिरी, उसने एक ही फटकेसे मोहके उस अभेद्य दुर्गको चकनाचूर कर डाला। जन्मके बाद पुत्र, पिछे पत्नी, दोनोंको कुदरतने अपनी हत्यारी गोदमें छुपा लिया। हडखाया होने पर भी परवश मैं हाथ मलता ही रह गया। मोहकी अन्धता उतरी, पश्चात्तापकी आँख खुली, दादाजीके आदेशका भान हुआ, संन्यासी बननेके मनोरथ जागे, पुरातन संस्कार ताजे हुए। मैं मोहाग्निका पतिंगा बन चुका था। उसमें जलकर खाक हो जानेसे पहले ही प्रभुने मुझे एक ही झपाटे में बचा लिया, ठीक उसी प्रकार, जैसे दीपकमें जलते पतिंगों पर दया करनेके लिये कोई दयालु सज्जन एक फूंकसे दीपकको बूझा दे। पतिंगा दीपक बूझानेवालेको निर्दय समझता हो तो भले समझे। मुझे तो उस दुखमें भी प्रभुकी दयाके दर्शन हुए। हे मोहानलमेंसे बचा लेनेके लिये तस्ती लेनेवाले प्रभो! तेरा उपकार।

प्रभुकी विशेष कृपा

मैं संन्यास ग्रहण करूं तो मेरा तो मानो ठीक,. परन्तु मेरे पिछेवालोंका क्या? मेरे विना उन लोगोंको कैसा कष्ट होगा, मेरे लिये कैसी कैसी चिन्ता

होंगी ? इस बातका विचार आते ही हृदय थर्रा ऊठता था, उनका त्याग विग्रह्य ही नहीं, असह्य प्रतीत होता था। कुटुंबी, सम्मन्धी, जातिवाले गण्यमान्य सज्जन, अन्य प्रतिष्ठित पुरुष इत्यादि प्रत्येक हितैषी विना मांगे और बगैर बुलाये संमति देने एवं सहानुभूति दिखाने आते थे। कई एक तो मानो, संबंधित पक्षके सन्देशवाहक हो कर आये हों वैसा भाव व्यक्त करते। आनेवालोंका व्यक्तित्व, समय, बातें करनेकी ढब, शब्दोंकी छटा, मुखारविन्दोंकी भावभंगी आदि सब कुछ भिन्न-भिन्न था,. किन्तु सार सबका एक ही था कि संसारमें नादानी को स्थान नहीं है, नादान मत बन, दूसरी पेढी मांड, दूसरी पेढीका सौदा तेरे समान मनुष्यके लिये सस्ता और सुलभ है।

एक ओर यह आग्रह था दूसरी ओर पत्नी का खयाल था। पत्नीकी सौम्य मूर्ति स्वप्नमें खडी होती, स्थिरभाव तथा गंभीर स्वरसे कहती कि "भले आदमी असमंजसमें पड़ा है ? ऊठ, खड़ा होजा अपनी फर्ज अदा कर। देख, सुन, न करे नारायण और कदाच तू ही मेरे प्रथम मर गया होता तो मुझे तेरे शबके साथ सती होना पड़ता। परिस्थिति ऐसा न करने देती तो भी वैधव्यजीवन तो बीताना ही पड़ता, मुझे तो मरणपर्यंत किसीके भी आश्रित होना पड़ता। तू मेरे साथ जता न हो सका, कुछ हर्जा नहीं; परन्तु अब तेरी क्या फर्ज है—इसका खयाल कर। तुझे तो किसीके भी आधीन होकर रहना पडेगा—ऐसा तो नहीं है, केवल संयमीजीवन वीताना है; संयममें दुःख दीखता हो तो उसमें व्रत या तपबुद्धि कर। व्रत या तपमें दुःख होने पर भी लगता नहीं, उसे तो सब कोई उत्साहसे आचरते हैं। दयालु देवने तुझे स्वतन्त्र किया है। मनुष्यजन्म, उसमें भी ऐसा अवसर प्रभुकृपाके बिना नहीं मिलता तो उसका लाभ लेनेकी तक (जो प्रभुकी प्रसादी है उस) का अनादर मत कर।"

"स्त्री जो मिट्टीकी मटकी हो, एककी छुई हुई दूसरेके काम न आ सकती हो; पुरुष कौन-सा सुवर्णका मटका है कि यह दलिल उसे भी लागु न हो सके। नादान प्राणी! समझ कि उदरोक्त दलिल तेरे लिये ही उत्पन्न हुई है तो उस उपयोग कर ले।"

यों एक तरफ पत्नीका तकाजा, दूसरी तरफ हितैषियोंका अनुरोध, एक कुटुम्बका आकर्षण तथा दूसरी ओर दादाजीका आदेश; अपनी-अपनी ओर खीं रहे थे। इस खिंचातानीमें मेरी स्थिति कैसी विषम थी, यह शब्दद्वारा प्रकट न की जा सकती, मुक्तभोगी ही जान सकते हैं। घायल हुआ मन चिन्ताके बोझ दफानाता-रुंधाता छित्ता-पीटता चटपटा रहा था। बुद्धि द्विविधाके गर्तमें गोते रहीं थी। कोई भी एक पक्षकी तरफमें कायमका निर्णय करना अश भासता था।

हे दुःखियोंके वेली ? मैं सुखकी खोजमें अंधकारमें धक्के खा रहा मुझे मदद कर, प्रकाशका दान दे, मार्ग बताव। हे अद्वैतके दूत! मैं तेरे स एकरुप हो रहना चाहता हूं, तो उसमें तत्पर बने रहनेकी शक्ति प्रदान कर, त मैं तुझसे दूर न खिसक जाऊं। हे शरणागतवत्सल! मुझे अपनी शरण आत्मनिवेदन करना सिखलाव। हे मुक्तिके भण्डार! मुझे इस खिंचा-तानी मुक्त कर।

अन्तरकी गहरी प्रार्थना बहिरे कानों पै नहीं टकराती। कान विना अन्तर्यामीने सुन ली और जडेश्वर जानेकी स्फुर्णा दे दी। सौराष्ट्रमें राजक थोडे दूर वांकानेरके पास श्री जडेश्वर महादेवका मन्दिर है। शान्त एकान्त स्थल है। मनको स्वस्थ करनेके लिये थोड़ा समय वहां रहनेकी इज

प्राप्त करनेमें कोई दिक्कत न हुई, सहजमें मिल गई। ईष्टमित्र सब किसीने प्रसन्नतापूर्वक भेजा और मैं वहां पहुँच गया।

गृहत्यागका निश्चय

मैं जडेश्वरमें नित्यकर्मसे निवृत होकर सायं-प्रातः शिवार्चन, महिम्नः आदि स्तोत्रोंका पाठ, गायत्रीमन्त्रका जप तथा भोले बाबाका ध्यान करता था। प्रथम दो दिन तो ठीक रहा, तीसरे दिन जप करते-करते मन तुफानी घोडे पै सवार हुआ। हृदयमें वैराग्यकी प्रचण्ड आंधी आई–"सत्यकी अनुभूति तो तब ही होती हैं जब कि अभिप्रेतका अन्त आता है। मुझे सत्यका अनुभव लेना हो' परमार्थकी प्राप्ति करनी हो तो अभिप्रेतका अन्त करना ही होगा, स्वार्थका त्याग करना ही पड़ेगा। निर्भय, निर्मल और स्वाधीन मनमें ही सत्यका वास रहता है। जीवनको सत्यसे अलग नहीं किया जा सकता, जीवन और सत्य, दोनों एक ही वस्तु है, एक–दूसरेमें ओतप्रोत है, एक ही सीक्केके दो पहलु है। तात्पर्य कि जीवनमें पग-पग पर सत्य सुरक्षित रहना चाहिये, निमेषोन्मेष वा श्वासप्रश्वास में अनुभूत होते रहना चाहिये। इस आदरणीय आदर्शको प्राप्त करनेके लिये साहसी बन। घर या कुटुम्बमें रह कर इसके लिये बलिदान न बन सकता हो तो जलदी–सें–जलदी उसका त्याग कर।"

दूसरे ही क्षण हृदयका तुफान शान्त हो जाता, वैराग्य ठण्डा पड़ जाता। स्नेहियोंकी स्निग्ध सुवास छोड़ कर बदलेमें विरहकी विहवलता लाद लेना सरल न था। प्रथम के कुदरती वियोग की अपेक्षा यह जान–बूझ कर अपने आप खड़ा किया गया वियोग विषह्य था। कुटुम्बियोंकी सेवा करना तो दूर रहा, प्रत्युत् वियोग दुःखकी खाईमें धकेलनेकी बाजी लगती। इस प्रकार

हृदयमें सांसारिक सुखकी असारता का उभरा आता कि तुरन्त मन इसी असा सुखके लिये अनेक प्रलोभनीय युक्तियोंका प्रदर्शन कराता और उबाल शान्त करता।

पुनः विचारोंकी दिशा बदलती–"मनका स्वभाव देहासक्ति है, बुद्धि स्वभाव आत्मप्रवणता है। चेतन आत्मा और जड शरीर इन दोनोंकी ग्रन् (संधि-मेल) पर ही मनुष्यका जीवन टिका हुआ है, अतः शुद्ध आत्मनिर्भर अथवा केवल मोक्षपरायणताको वह पचा नहीं सकता। बुद्धि मोक्षमें रत रह चाहती है, मन भोगमें लोलुप हो रहा है। बुद्धि श्रेयका सहारा चाहती है, म प्रेयका पक्ष ले बैठा है। उपरसे प्रेमल और सुन्दर प्रतीत होनेवाले भोगों वात्सल्यमें ठगाना मत। भोग वाहरसे जितने कोमल मालूम देते हैं, अन्दर उतने ही क्रूर हैं। उनके दिखानेके दांत प्रेममय होने पर भी चबानेके क्रोधमय ही हैं। भोग इतने खाउधर हैं कि उनकी भूख पूरी करनेकी कोशि करनेवाला स्वयं पूरा हो जाता है।"

यों गोमुखीमें हाथ, हाथमें माला, मुखमें गायत्री-मन्त्र और मनमें उलटे सुलटे विचार। बस यही क्रम रोज चलता रहता था। हां इसमें धीरे-धी सुधार होता रहा-यही भगवान् जडेश्वरकी अनुकम्पा। अन्तमें एक दिन रात बिस्तर पर पड़े-पड़े ही भोले बाबाको मनाया–इस द्विबिधाका अमुक निर्णय शरणागतकी लाज रख परमपिता! मनौती (बिनती) विचारमें परिणत हो गई "दादाजीके आदर्शतक पहुँचने के लिये पुरती यात्रा तो मुझे अकेले ही करनी पडेग कोई भी साथी या सहायक वहां तक पहुँचा नहीं सकता। मुझे अपने पैरों चलके ही मार्ग तय करना होगा। अखिर तो यहांका सब कुछ यहीं छोड़

अकेला जाना तो है ही, तो फिर अभीसे ही एक-अद्वितीय स्थितिमें पहुँचनेका प्रयत्न क्यों न प्रारम्भ कर देना चाहिये !"

* "घर, वतन, कुटुम्ब आदि सब कुछ छोड़ कर तू करांची क्यों गया था, धनके लिये न ? जो धनके लिये घर-द्वार छोड़नेमें कुछ भी बाधा न आई तो परमधन प्रभुके लिये घर छोड़नेमें तुझे क्या आड आती है ? जो धनके वास्ते विलायत जायाजाता हो तो प्रभुके लिये हिमालय क्यों न जाया जाय ? धनकी योग्यता चाहै जितनी बडी मानी जाय तो भी आत्माकी अनन्त महिमाके सामने तो नहीं–सी ही है । पैसेरूपी परमेश्वरकी उपासना हों सकी उतनी की, अब आत्मारूपी ईश्वरकी आराधना करनी रही ।"

"इसके लिये सर्वस्वको तिलांजली देनी पडेगी, घोर तप करना पडेगा विविध-विघ्न-बाधाओंसे भरपूर भरे हुए इस संसाररूपी भीषण समुद्रके तरंगा-घातोंको छाती खोलकर झेलनेके लिये निष्ठुर तथा दारुण शिलाखण्डके समान स्थिर होना पडेगा । उत्साहको शिथिल करनेसे काम नहीं चलनेका, सत्वर तैयार हो जा, इसी समय उस सौभाग्यका मुहूर्त है, शीघ्रातिशीघ्र साध ले ।"

"न श्वः श्व उपासीत को हि पुरुषस्य श्वो वेद ।" (शतपथ ब्राह्मण २।१।३।६) अर्थात्–"हो जायगा, देखा जायगा, जलदि क्या है, कल कर लेंगे, पिछे करेंगे,. इस प्रकार टाल–मटोल न करना । मनुष्यकी कलको किसने देखा है ? कल–कल करते कहीं काल ही न आ धमके । मतलब कि जो कुछ करने

---

* स्वामीजी गृहस्थाश्रममें व्यांपारके वास्ते करांची गये थे, वहां एक आयुर्वेदिक दवाखाना खोला था, जो तीन वर्ष जितने स्वल्प समयमें भी काफी उन्नति कर चुका था, परन्तु उपरका बनाव बन जानेसे बन्ध हो गया ।

योग्य हो उसे आज ही, अभी कर लेना चाहिये।" किसी रोगीकी कभी वैसी नाजुक हालत होती है कि उसे खोराक दिया जाय तो पचता नहीं और उपवास उससे सहन होता नहीं। मेरे मनकी दशा भी ठीक ऐसी ही थी, भोगका अजीर्ण था और त्यागकी तयारी न थी; फिर भी भगवान् जडेश्वरकी कृपासे मैं गृहत्यागका निश्चय परिपक्व कर सका।

"रे कालकी विकराल दंष्ट्रामें पीसा जा रहा असहाय और दीन मनुष्य! तू तेरे लिये दयालु बन, विषयके विषका त्याग कर और प्रभुके प्रेमरसका पान करके अमर हो जा।"

गृहत्याग और गिरनार गमन

एकाद मास जडेश्वर महादेवकी छायामें बीतानेके बाद उपरके निश्चयको लेकर मैं वापस राजकोट (घर) लौटा। सुना था कि "बड़े–बड़े महात्मा, तपस्वी, पहुँचे हुए साधु–सन्त तथा सिद्ध योगी आदिने निवासस्थानके रूपमें गिरनार पर्वतको पसन्द किया है। एक अघोरी बाबा, जिनका नाम गंगागिरी है और जो बांये पैरसे लंगडे हैं; वे तो ऐसे चमत्कारी सिद्ध हैं कि सिंहके रूपको धारण कर सकते हैं और जिस किसीको उनके दर्शन हो जाय तो उसे निहाल कर डालते हैं।" मुझे भीं अपना बेड़ा उनके दर्शनमात्रसे ही पार कर लेना था; अतः वहाँ जानेकी एवं उनके दर्शनकी इच्छा मुझे हुई। घरमेंसे भाग छूटनेका मौका मिलते ही, किसीको भी कहे विना मैं चूप चाप घरसे बाहर निकला। घरको प्रदक्षिणा तो न दे सका, पर हमेशांके लिये नमस्कार किया–"हे गृहदेवता! मैं आपको भूलनेके लिये नहीं छोड़ जाता, प्रत्युत् विश्व समान विशाल बनानेके लिये छोड़ रहा हूं। कुटुम्बको भी दूर

करनेकी दानतसे नहीं छोड़ता, पर आत्मभावसे अत्यन्त समीप लानेकी निष्ठासे त्यागता हूं। वात्सल्य ईश्वरकी बक्षिस है, पर वह शुद्ध होना चाहिये। शुद्ध वात्सल्यका पात्र अखिल विश्व होता है, अमुक इनी-गिनी व्यक्तियां ही नहीं। अमुक व्यक्तियोंमें ही उलझा हुआ वात्सल्य वास्तविक वात्सल्य नहीं है, किन्तु वात्सल्य-विरोधी मोह है, अगर तो मोह-प्रदिग्ध प्यार है।" नमस्कार करके धीर तथा स्थिर पगसे गिरनारके मार्ग पर चला, सीधा दामोदरकुण्ड पहुँचा। दामोदरकुण्ड तो मानो जूनागढ़का स्मशान और सौराष्ट्रकी हिन्दू प्रजाके अस्ति-विसर्जनका धाम।

उस समयका वहांका दृश्य सफाईके अभावसे बिभत्स एवं घृणित था, अब सौराष्ट्रसरकार कायम होनेके बाद सुधरा हो तो अच्छा। श्रद्धा होने पर भी स्नान करनेकी इच्छा न हुई। भाव–कुभावसे भगवान् दामोदरनांथके दर्शन करके लौटते ही एक कौतुक देखा। एक कुत्ता मुखमें अधजलि हड्डी पकड़े दौड़ रहा था, दूसरे कुत्तांने उसे घेर लिया। सभी कुत्ते दांत, नख आदिसे उसे मारने लगे, मार सहन न हो सकनेके कारण उसने मुखसे हड्डी छोड़ दी। हड्डीके छूटते ही सब कुत्ते उसे छोडके छोड़ी हुई हड्डीके पिछे पड़े और वह कुत्ता अपना जी बचानेके लिये भगा, दूर एक वृक्षकी छायामें जा कर आरामसे बैठा। उन सब कुत्तोंमें हड्डीके सुखे टुकड़ेके लिये घोर युद्ध छिड़ा। प्रत्येक कुत्ता विजयकी विरदको अपनी बनानेके लिये अपनी तमाम शक्तिको फना कर डालनेके लिए तत्पर था। कुछ ही देरमें सब कुत्ते आपसकी लड़ाईसे घायल हो गये। अन्तमें एक बलिष्ठ कुत्ता जीत गया; पर उसकी दशा हारे हुओंकी अपेक्षा अधिक खराब थी। वह अपने अधिकारमें आये हुए हड्डीके नीरस टुकड़ेको गर्वसे चबाने लगा, थका हुआ तो था ही, बैठ गया। नीरस हड्डीमेंसे रस न आनेसे हड्डीको

मुखमेंसे बाहर निकाली, नीचे रक्खी, थोडी देर इधर उधर देखता रहा, बादमें फिर मुखमें ले ली और जोरसे चबाने लगा। सुखी हड्डीको चबाते-चबाते उसके मसोडे छिल गये और उनमेंसे रक्त निकला। उसकी जीभको स्वाद आया हो, त्यों वह अपने रक्तको रसपूर्वक चाटने लगा और अधिक वेगसे हड्डीको चूसने लगा।

मैने सोचा—हम भी तो अपने रक्तके प्यासे हैं, इस कुत्तेसे घटिया तो नहीं, बढ़िया भले ही हों। किसने किसकी गलती निकाली, किसने किसका दोष देखा! कथोटा कुण्डेको हसे तो उचित नहीं, तू तेरा काम सम्भाल।

अघोरीका अन्वेषण

दामोदरकुण्डके बाद भवनाथ (महादेव) के दर्शन किये, भोमिया साथ लिया और अघोरी बाबाका अन्वेषण आरम्भ हुआ। भोमिया स्वयं जानता था' फिर भी उत्साह बतानेके लिये दूसरोंसे पूछा, दूसरे भी अपनी-अपनी ढबसे बतलाते जाते थे और हम अपनी ढबसे खोजते जाते थे। अमुक महात्माकी मढ़ियाँ, अमुक महन्तके अखाड़े आदि तो भोमियाकी भूमिका ही थी, परन्तु वहां अघोरीके मिलनेका सम्भव कम था; अतः हमने उनके अतिरिक्त अन्य एकान्त स्थलोंको अपने अन्वेषणका लक्ष्य बनाया। जहां जहां मिलनेका सम्भव था वहां तथा लोगोंने बतलाया, वे—वे वन, जंगल, खोह आदि सभी खोज डाले, पांच दिन तक पैर तोड़े। छट्ठे दिन एक गृहस्थने कहा—"अघोरी तो रातको मिलते हैं, दिनको नहीं। रातको अमुक स्थलमें उनकी धूनी लगती है। रातको धूनीकी आग चमकती है, उसे देखकर तुरंत वहां पहुँच सकें तो दर्शन अवश्य हो जाये"।

भोमियाने बत्ती आदिका प्रबंध किया और जहां खडे हो कर पहाड़ पर से

दूरकी चमकती हुई आग दीख सके वैसे स्थान पर हम लोग शाम होनेसे पहले पहुँच गये। अंधकार होते ही पूर्व दिशामें आग दीखी। अंधकारमें पड़ते-गिरते हम धूनीके पास पहुँचे। वह धूनी अघोरी बाबाकी नहीं, किन्तु लकडी काटनेवाले मझदूरोंका चूला था। मैने उसको पूछाः "बंधुओं, आप लोग जंगलके जानकार हैं, अतः बांये पैरसे लंगडे अघोरी बाबा गंगागिरिको आप अवश्य पहचानते होंगे?" उनमेंसे एकने उत्तर दिया "हां-हां, वे तो वाघ भी बन जाते हैं और जिसको दर्शन हो जाते हैं, उसके भाग्यका द्वार खुल जाता है"। दूसरेने अनुमोदन दिया-"एकदम सच्ची बात, इस विलखा गांवके गिरासदारके दलिदरको नष्ट कर डाला"। मेरी जिज्ञासा उत्तेजित हुई-"आप तो रातदिन यहां विचरते हैं; इससे आप लोगोंको तो उनके दर्शनका लाभ कभी हुआ ही होगा"। सब-के-सब एक साथ ही चिल्ला उठे-"नहीं-रे-नहीं, हमारे नसीब वैसे कहां पडे हैं?" मुझे भी मेरे भाग्यका भान हुआ कि अघोरी बाबाके वर्णन करनेवालोंमेंसे किसीको भी उनके दर्शनका सौभाग्य नहीं मिला है तो मुझे भी मिलनेवाला नहीं। कितनी बडी आशा लेकर यहां आया था? अन्तमें अनुभवने तो इससे भी बहुत कडी निराशा प्रदान की।

यद्यपि यहां (गिरनार) की विशेषतायें थीं, जैसे कि पर्वतका भौगोलिक उठाव, प्राकृतिक दृश्य, वनराशियोंके ठाठ, आँखोंको शीतल करनेवाला सौन्दर्य, मोहक एवं शीतल वायु, आरोग्यप्रद जल इत्यादि, परन्तु मुझे इन सबके साथ निस्बत नहीं थी; अतः मेरा मन हताश हुआ। जो कोई तटस्थभावसे अपने मनका निरीक्षण कर सकते होंगे, उन्हें स्पष्ट मालूम देता होगा कि मन एक क्षणमें देव बननेका संकल्प करता है और दूसरे ही क्षण दानव बन बैठता है। अब एक पल भी यहां ठहरना भारी था। एक महात्मा हरिद्वार जाते थे उनके

साथ वहां प्रस्थित हुआ।

दूर ही ते पर्वत दीपै, वेश्यावदन विभात।
रणका वर्णन, रम्य त्रय दूर ही से दरसात ॥

गुरुमूर्ति गंगामैया

हरद्वार यानि हिमालयका प्रांगण और हिमालय यानि भव्यताका भण्डार, दिव्यताका अंबार। देवव्रतभीष्मजननी गंगामैयाका दर्शन–स्पर्शन यानि शैत्य–पावनतत्वका प्रत्यक्ष अनुभव। कहनेकी बातें पेटमें समाती न हों, यों प्रथम दर्शनमें ही गंगामैयाने बहुत कुछ कह डाला। गंगामाताने श्रवणसुखकारी ध्वनिमें कहा: "देख यह हिमालय, इसमेंसे चूतीटपकती मैं और जिसके अन्दर मैंने समाजाना है वह सागर, हम तीनों परमेश्वर नहीं हैं; किन्तु परमेश्वरका स्मरण करानेवाली विभूतियाँ अवश्य हैं। विभूति भले एकदेशीय हो, फिर भी स्मरण तो सम्पूर्णका ही कराती है। ये गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वतमालायें अपनी विचित्र रचनाद्वारा अपने निर्माताकी सत्ताका उद्घोष मूकस्वरसे कर रही हैं और सूचित करती हैं कि उस विश्वशिल्पीकी महिमा हमारे उत्तुङ्ग शिखरोंकी अपेक्षा अति उन्नत है। इन शिखरोंमेंसे प्रस्फुटित होती प्रखरवेगवाहिनी मेरे (गंगा) समान सरितायें भी उस जगदीश्वरके अस्तित्वका सत्यसमाचार कर्णप्रिय कलकल ध्वनिद्वारा दे रही हैं। ये नदियाँ जहां जाकर विलीन हो जाती हैं वह उत्तुङ्ग-रंगोवाला समुद्र भी नियमित भरती–ओट (ज्वार–भाटा) करता, तरंगोंको उच्छालता अपने निर्माणकर्ताके सामने ही अंगुलीनिर्देश कर रहा है। हम (नदियाँ) जिन दिशाओंमें बह रही हैं ये दिशायें भी उस देवकी दिव्यताका ही प्रदर्शन करा रही हैं। हमें उस सुखस्वरूप परमेश्वरका प्रेमपूर्वक विशेष स्मरण करना चाहिये"।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्वेद १०।१२१।१४)

अर्थ—जिस परमेश्वरकी महिमाका गान, हिमालय आदि पर्वत तथा सरिताओंके सहित समुद्र कर रहे हैं, एवं जिस परमात्माकी सूचनायें पूर्व-पश्चिमादि दिशायें दे रही हैं, हम उस सुखस्वरूप प्रभुकी सविशेष भक्ति करें।

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभुका परिचय करानेवाले गुरुके सदृश हिमालय तथा गंगामैयाको मैंने हार्दिक भावसे वन्दन किया।

मन गंगा-जल जैसा हो तो ?

हरिद्वारकी गंगाका जल अमृत है, जितना शीतल उतना ही स्वादिष्ट; आरोग्यप्रद तो ऐसा कि आयुर्वेदके चरकसमान सभी ग्रन्थोंने उसे (गंगाजलको) पथ्य कहा है। आधुनिक विज्ञानवेत्ताओंने तो उसे कृमीनाशक सिद्ध किया है, उसमें कीटाणु उत्पन्न नहीं होते, यही नहीं; किन्तु किसी भी रोगादिके जन्तु उसमें डालने पर नष्ट हो जाते हैं। उसके पावनत्वकी प्रशंसा तो समस्त शास्त्रोंने एक स्वरसे की है। स्वच्छ तो ऐसा कि पारदर्शककी माफिक, आर-पार सब कुछ देखलो, प्रवाहकी नीचेके छोटे-बड़े सभी कंकर गिन लो। साधु, ब्राह्मण और बन्दर तकको भोजन करानेवाले यात्रिलोग रामनामवाली कच्चे आटेकी गोलियोंका भोजन मछलियोंको कराते हैं। पसली भरके गोलियाँ गंगामें फैंकी जाती हैं, डूबती-उत्तराती गोलियोंको मत्स्य पकडते हैं, बडी मछली छोटी मछलीके मुखसे गोलीको छीनती है। किनारे परसे देखनेवालोंको यह कुतुहलमय दृश्य

स्पष्ठ दीखता है । उसके अतिरीक्त गंगामें पडी हुई अन्य सभी चीजें साफ नज़र आती हैं; कारण कि गंगाजल निर्मल है ।

आत्मदर्शनके लिये भी मनका निर्मल रहना आवश्यक है । चोमासेके गदले जलमें कुछ भी दीख नहीं सकता, इसी प्रकार मलीन मनमें आत्मानुभव नहीं हो सकता । रातको अंधकारावृत जलमें कुछ भी नजर नहीं आ सकता, अज्ञानावृत मनमें भी आत्मप्रतीति नहीं हो सकती । मन स्थिर भी होना चाहिये । मल, विक्षेप एवं आवरणरहित अर्थात निर्मल, निश्चल और प्रकाश (ज्ञान) युक्त मनमें ही आत्मभान आ सकता है तथा टिक सकता है ।

वस्त्रके एक टुकड़ेको दूसरेके साथ जोड़ना हो तो सुई काम आती है; तोप नहीं, इसी तरह जीवात्माको परमात्मके साथ जोड़ना हो तो सूक्ष्म बुद्धि चाहिये, स्थूल नहीं । हम कहते हैं कि मन शुद्ध होता नहीं; परन्तु हम जो अशुद्ध विषयोंका चिन्तन छोड़ें ही नहीं तो मन शुद्ध कैसे हो ?

एकान्त तो वहां थी ही, किन्तु बाहरकी एकान्त वास्तविक एकान्त नहीं हो सकती । एकान्त यानि इच्छा, चिन्ता मनकी अलग-अलग वृत्तियोंका एक (ब्रह्म) में अन्त । राग, द्वेष, शोक, चिन्ता इत्यादि किसी भी बातका मनमें प्रवेश न होने पावे-यही असली एकान्त है । ऐसी एकान्त जिसने साध ली, वही सच्चा साधक है । मन वश होना चाहिये । हृदय हाथमें हो तो उसमें दैवी भावनाका प्रवेश होता है, आसुरीको अधिकार ही नहीं रहता ।

हरिद्वार-कनखलकी यात्राने मुझे अच्छा फल दिया, वहां मैं अधिक रहा और साधु-सन्तोंके दर्शन आदिका मधुर अनुभव खूब लेता रहा ।

हरद्वारसे हृषीकेश

द्वार पर पैर धरनेके पश्चात् अन्दर जानेकी जिज्ञासा जिसे न हो ऐसा कोन होगा ? कम-से-कम मैं तो वैसा न था। द्वारमें दहेली पर खड़े रहना अप-शकुन है, अतः पिछे नहीं, किन्तु आगे बढ़ना चाहिये और धसा आगे, पहुँचा हृषीकेश। हृषीकेशके वायुमण्डलने तो मुझे मुग्ध बनाया। पर्वतीय प्रदेशमेंसे उतरती, मोड लेती, चक्रकाटती, उछलती-कूदती, हर-हर-हर-हरका गान करती गंगामैयाकी भव्य मूर्ति; कोमल कुम्पल एवं मोहक पुष्पोंके भारसे लथ-पथ लदे जंगल, प्राकृतिक व्यूह, कुदरती सौन्दर्य, सम्पूर्ण स्तब्धता और अपूर्व एकान्त; इन सबके प्रभावसे मन मस्त बनता, मग्न रहता। गंगामाताके तट पर पुरानी भाडी के अन्दर पर्णकुटियोंमें विराजमान उच्च कक्षाके महापुरुषोंके दर्शनसे नयन ही नहीं, हृदय भी शीतल होता। पिछले पहर पर्णकुटियोंके बाहर गंगामैयाकी मखमली बालुकामयी गोदमें बैठकर जीव, जगत् एवं ईश्वरके विषयमें परस्पर चर्चा करनेवाले उन महात्माओंके दर्शन तो स्वर्गको भी भूला देते। उस समयके हृषीकेशकी दिव्यता इस समय अपने लोगोंने मिटा दी है; तथापि उस उत्तरा-खण्डकी रही-सही पवित्रता इस समय भी प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है।

कैलासाश्रमकी विशेषता

श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि भाष्य, अद्वैतसिद्धि आदि आकर ग्रन्थ तथा वेदान्तादि शास्त्रोंके अध्ययन अध्यापन और श्रवण-मननका सत्र (सदावर्त) सतत चलता रहता है-वैसे कैलासाश्रममें १०८ श्रीमत्परमहंस परि-व्राजकाचार्य स्वामी धनराजगिरिजी महाराज, १०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी प्रकाशानन्दपुरीजी महाराज, १०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी

गोविन्दानन्दगिरिजी महाराज आदि ब्रह्मविद्वरीष्ठ महापुरुषोंके दर्शन हुए।

स्वामी प्रकाशनन्दपुरीजी महाराजके व्यक्तित्वने, प्रेमल, निखालस एवं रमुजी स्वभावने मुझे खूब आकर्षित किया। दर्शन होनेके साथ ही मुझे ऐसा भास हुआ कि इनके चरणार्विन्दोंसे तो मैं चिर-परचित हूं और आत्मीयता सत्य अर्थ में मिल गई। हृषीकेश निवासी सभी सज्जनोंसे सुना कि स्वामी रामतीर्थजी महाराज तथा स्वामी विवेकानन्दजी महाराज आदि महात्माओंने स्वामी प्रकाशानन्दपुरीजी महाराजके पाससे वेदान्तका शिक्षण लिया था। ऐसे सन्त-पुरुषके चरण सेवनकी इच्छा हो, यह स्वाभाविक था; किन्तु उनके सहवासका लाभ उठा सकने जितनी योग्यता मैं अपने अन्दर देखता न था। उपरान्त मन भी चंचल था, स्थिर नहीं रह सकता था। मल और आवरणके दोष भी अधिक प्रमाणमें थे, अतः स्थूल बुद्धिसे सूक्ष्म बातें समझ न आतीं। कोई ऐसी साधना करनी चाहिये कि बुद्धि मल-विक्षेप रहित बने, खूब सूक्ष्म हो जाय, ताकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्वकी सूक्ष्म बातें समझ सके-यह इच्छा हुई।

साधक साधुओंसे साधन-सम्बन्धी जिज्ञासा करने पर पता चला कि आबुके पहाड़ पै एक ऐसे योगिराज विराजते हैं, जो स्वल्प समयमें समाधिलाभ करा देते हैं। मनमें आया—आबू चलूं, योग सीखूं, अन्तःकरणको तैयार करूं, पुनः पिछे यहां लौटूं और इन महापुरुषों (स्वामी प्रकाशानन्दपुरीजी) के उपदेशामृतका पान करने योग्य बनूं और मन-ही-मन माने हुए गुरु (स्वामी प्रकाशानन्दपुरीजी) को सच्चे गुरु बनानेके लिये भाग्यशाली हो जाऊं।

ऐसे विचारोंके साथ फिर हरद्वार आकर रहा। बीच-बीचमें हृषीकेश जाता-आता रहा था। एक दिन तो प्रातःकाल ऊठकर पैदल ही कनखलसे

हृषीकेश-लक्ष्मणझूला होकर लौटते समय कैलासाश्रममें भिक्षा की (भोजन लिया) आराम किया, और सायंकाल फिर पिछा हरद्वार (कनखल) पहुँच गया। कनखलसे लक्ष्मणझूला लगभग २१ मील है और उस समय किसी भी प्रकारका वाहन-व्यवहार नहीं था, पैदल ही जाना-आना पड़ता था। आबू जानेकी अधीराई बढ़ती जाती थी, दैवयोगसे साथ मिल गया। यात्रानिमित्तसे आया हुआ एक मारवाडी कुटुम्ब पुनः मारवाड़ जा रहा था, उसने मुझे आबु ले जानेके लिये मेरे मित्रोंके मारफत प्रार्थना की और मैंने जल्दी ही लौट आनेकी कबुलातके साथ गंगामैयासे विदा चाही, कृतज्ञतापूर्वक वन्दन किया।

आबुका अनुभव

हरद्वारमें सुनी हुई योगिराजकी पुनीत कीर्तिका आबुमें पुनः श्रवण करके कान तृप्त हुए, आँखोंको ईर्षा आ गई, अतः दर्शनके लिये अधीर हो उठीं। मनुष्योंकी चहल-पहलसे अलग. दूर जंगलमें एकान्त स्थलकी एक कन्दरामें योगिराज रहते थे, मध्याह्नमें दो बजे गुहासे बाहर निकलते थे और चार बजे पुनः प्रवेश कर जाते थे। फिर दूसरे दिन दो बजे निकलते, दो घंटेमें शौच, स्नान, खान, पान आदि सब कार्य समाप्त कर लेते, पिछे फिर गुफामें जा कर ध्यानमग्न हो जाते-रोजका यही कार्यक्रम था। समीपके गांवका एक सद्भागी मुखिया उन्हें भोजनादि पहुँचाया करता था। काली गायके एक शेर दूधमें एक छटांक चावल एक छटांक चिनी और एक छटांक गो घृत डाल कर बनाई हुई खीर। बस यही योगीका आहार और वह भी एकवार एवं नियत समय पर। उनके दर्शन का सरल उपाय वह मुखिया था, सो उसे साधा, वह काममें था, तो भी उसने मेरी बात शान्तिसे सुनी और प्रेमप्रदर्शित करते हुए उसने कहा- 'कल आना, आज मैं योगी बाबाकी आज्ञा ले रक्खूंगा और कल आपको अपने साथ ले

चलूंगा।" दूसरे दिन योगिके दर्शनका लाभ मिल गया। क्या ही उनकी भव्य मूर्ति, प्रसन्न मुखाकृति, सौम्य तेजस्विता, अभूतपूर्व आत्मीयता और आल्हादप्रद वाणी, उनके अनोंखे व्यक्तित्वमें अपने व्यक्तित्वको मिला दें-ऐसा वरेण्य आकर्षण देख कर नयन शीतल एवं तृप्त हुए। गिरनारकी थकावट आबुने उतार दी। मैने योगिमहाराजके चरणमें शिर रक्खा और योग सीखानेके लिये प्रार्थना की। ध्यानका अभिनय करते हों उस तरह स्थिर-टट्टार होकर योगीने आँखे अध-खुली की। थोड़ी देरके बाद मधु (शहद) समान मधुर शब्दोंमें स्वीकृति मिली और दूसरे ही दिनसे प्रातःकाल साढ़े आठसे साढ़े नवका समय निश्चित हुआ। इतनेमें योगिमहाराजका दो घटेका कार्यक्रम पूरा होगया, वे कन्दरामें घुस गये और हम अपने मार्ग पर चले। मुखियाने अपने गांवका मार्ग लिया और मुझे अपने डेरे पर नखीतलाव जानेके लिये पगदण्डीका एक छोटा रास्ता दिखा दिया। मैं उस पहाड़ी मार्गसे प्रस्थान कर रहा था, भगवान् सवितानारायण अस्ताचलकी आड़में आराम लेनेकी तैयारी कर रहे थे, पक्षी अपने-अपने विश्रामवृक्ष पर पहुंचने के लिये उड़ा-ऊड़ कर रहे थे, रजनीचर प्राणी अपने-अपने गुप्तवासमेंसे बाहर निकलनेके लिये अंगडाई ले रहेथे। मेरा मन हर्षके उभरेमें कल्पन वायुकी पंखसे उड़ रहा था। "कलही से योग सीखना शुरु होगा, इने-गिने दिनोंमें मैं भी एक महान् योगी बन जाऊंगा, योगशास्त्रमें वर्णन की हुई सिद्धियां मेरे सन्मुख हाथ जोड़कर हाजिर हो जायगी। मेरे लिये विमान आयगा, जिसमें विराजमान होकर मैं स्वर्ग पधारूंगा। स्वर्गके अध्यक्ष देवराज इन्द्र मुझे स्वर्गमें पधारनेके लिये आग्रह करेंगे। मैं उनसे पुछूंगा कि स्वर्गमें मुझे कब-तक रक्खेंगे? वे उत्तर देंगे कि जब तक तुम्हारा पुण्य पूरा नहीं होता तब तक। मैं कहूंगा कि जिस स्वर्गमेंसे क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमें लौट आना पड़ता है उस स्वर्गको मैं धिक्कारता हूं, आपका स्वर्ग आप ही को मुबारक हो

हो, मैं तो यह चला ब्रह्मलोकमें। मेरा मानसिक विमान प्रकाशकी गतिसे उपर ब्रह्मलोककी ओर उडेगा, साक्षात् ब्रह्मा ब्रह्मवासियोंको साथमें लेकर सरघसके रूपमें मेरा स्वागत करनेके लिये आवेंगे। मै विमानमेंसे कूद कर ब्रह्मदेवके चरणमें दीर्घदण्ड नमस्कार करके चरणोंसे लिपट पड़ूंगा"। अकस्मात् पैरदेवको पहाड़ी-पत्थरदेवकी मुलाकात हो गई, ठोकर लगी और ब्रह्मलोकके आंगनकी अपेक्षा पहाड़ी मार्गमें कूदा, ब्रह्मदेवके चरणके बदले पत्थरदेवके पार्श्वमें लिपट पड़ा। चोटका दर्द और मनकी मूर्खताभरी कल्पनाका आश्चर्य, ये दोनों मुझे अपना बनानेकी होड़में थे। इन्द्रके बदले मनको धिक्कारनेकी नौबत आई—"रे मूर्ख मन! तू जिस कल्पतरुकी शीतल छायामें व्यक्त हुआ है उसका तिरस्कार करके विषवृक्षोंके बिहड जंगलमें भटक मरनेके लिये क्यों तरस रहा है? चाहे तो तूं ब्रह्मलोकमें जा, चाहे तो पातालमें पेठ, कहीं भी दौड, परन्तु तेरे अपने मूलके मेले बिना तुझे शान्तिका एक छींटा भी मिलनेका नहीं। रे कामांध मन! अब ठोकर खानेके बाद) तो समझ जा, शान्त बन"।

प्रातःकाल समय पर योगीके पास पहुँच गया और सायंकालवाली घटनाकी लनका उबाल चरणमें उडेला। वे मुस्कराये, धीरे रह कर बोले कि "अन्य सभी चीजों पर बैठनेवाली मक्खी एक आग पर नहीं बैठती जो भूले—चूके बैठी तो फिर उड़ नहीं सकती, इसी प्रकार मन विषयोंकी विष्ठामें इधर-उधर भटकता है, ठहराया ठहरता नहीं, मायिक पदार्थोंमें आसक्त होता रहता है; परन्तु एक आनन्दकन्द प्रभुके चरणोंमें आसक्त नहीं होता, जो कदाचित् भूले—चूके आसक्त गया तो भटकना भूल जाता है"।

मैं योगका अभ्यास करता था, परन्तु क्षणमें शान्त और पलमें पुनः अशान्त, ऐसा सहज चंचल मन स्थिर रहता नहीं था। बहिर्मुखतासे बड़ी मेहनत

करके किसी प्रकार अन्तर्मुख किया हुआ मन हाथताली देकर तुरन्त छूमन्तर हो जाया करता था। पता लगता तब अनेकाग्रतामें से खींचकर एकाग्रताकी ओर मोडनेको मथता। कभी-कभी सूर्यसमान तेजस्वी तथा चन्द्रसमान शीतल प्रकाश हृदयमें व्याप जाता, फिर कभी श्रावणमासकी अमावासके सदृश गहरा अन्धकार आ घेरता। कभी निद्रा, कभी तन्द्रा, कभी लय, कभी आलस्य, कभी प्रमाद आदि भी जितना सताया जा सके, उतना सता लिया करते थे। योगिमहाराजके उपदेशसे मन निराश नहीं होता था, वासनाके रसास्वादमें वह जानेके बाद भी ठिकाने आ जाता, पश्चात्ताप करता और साधनामें ज्यों-ज्यों विघ्न आते त्यों-त्यों योगसाधनामें मण्ड जाता।

यम, नियम, आसनके पश्चात् प्राणायममें प्रगति साध लेनेके अनंतर प्रत्याहारका काम सरल नहीं था। प्रत्याहारका अर्थ है कि स्वभावसे ही विषयोंमें दौड़नेवाली इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटा कर भगचिन्तनमें एकाग्र करना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषयोंमें आसक्त होकर ही इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं, अतः विषयभोगके लिये विषयोंको प्राप्त करने की तथा उनमें रमते रहनेकी इच्छा इन्द्रियोंको स्वाभाविक ही होती है। उनमेंसे बलपूर्वक खींच लाकर ध्यानमें स्थिरं करनेका काम धारणाकी अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है। इस अशक्यमें अशक्य कार्यका भी सीधा-सरल उपाय योगिराजने दिया "भगवानका स्वरूप ऐसा आनन्दसागर है कि जिसमें ब्रह्मलोक तकके विषयानन्दोंकी बून्दें समाई हुई हैं। देश, काल, वस्तु आदि सब कुछ भगवान् वासुदेव ही हैं। इन्द्रियां चाहे जिस देश, काल या वस्तुमें जाँय; परन्तु इतना याद रक्खें कि वासुदेवः सर्वम् है तो फिर भगवान् वासुदेवके स्वरूपभूत आनंदसागरमें—आनंदामृतमें मग्नतृप्त बनी हुई इन्द्रियां उन बून्दोंसे भी तुच्छ विषयोंमें मुख अपवित्र न करेंगी। मतलब

कि इन्द्रियां स्वभाववश जहां जाये वहां उन्हें ब्रह्मानन्दका भान कराते रहनेसे प्रत्याहारसिद्धि शीघ्र सम्पन्न होती है।" धारणा, ध्यान, सविकल्प समाधिका अभ्यास करानेके पश्चात् योगिराजने आदेश दिया कि "अब किसी श्रोत्रीय-ब्रह्मनिष्ठ महात्माके पास जाओ और उनके पाससे ज्ञान-समाधि (सहजावस्था या स्वरूपस्थिति) प्राप्त करो। मेरे पास जो कुछ था, वह सब कुछ खुल्ले दिलसे मैं तुम्हें दे चुका। अब इससे अधिक कुछ भी मेरे पाससे मिल सकेगा, नहीं।" इस प्रकार आबुमें अच्छा अनुभव मिला।

प्रयागके मार्गमें

योगीकी आज्ञानुसार मैंने प्रयाग तरफ प्रयाण किया, पैसेका स्पर्श भी न करनेका नियम होनेसे पैदल चल कर ही जानेका निश्चय किया। रेलकी पटरी-पटरी चला, थोड़ा दिवस चलनेके बाद शरीरमें बुखार चढ़ा। बाहर सूर्यके ताप, और अन्दर मलेरिया ताप, पर मनमें अभी सन्ताप नहीं था। एक छोटा स्टेशन आया, स्टेशन-मास्टरने क्वीनाईन खिलाया और कहा कि जाओ, आगे गांव आयेगा, वहां दूध पीना; नहीं तो क्वीनाइन गरमी करेगा। गांव आया, दुकान पर दूध था; परन्तु मेरे पास पैसे नहीं थे और बगैर पैसे देनेकी श्रद्धा दुकानदारके पास नहीं थी। आगे चलनेके सिवा ओर कोई चारा न था; लाचार आगे बढ़ा। भाद्रमासकी धूप, मध्याह्नका समय, क्वीनाइनकी तेजी और इसीलिये मलेरियाकी उग्रता; इन सबने मिलकर मनको भी सन्तप्त बना डाला। सन्ताप होने लगा—पासमें पैसे होते तो दूध पीनेको मिलता और बुखार की गरमी कम सताती। तुरन्त तिरस्कार आया, फिटकार बरसा कि तू बाहरसे पैसेको छूता नहीं है और अन्दरसे पैसेकी लौ लगा रहा है—यह निरी आत्मवंचना नहीं तो दूसरा क्या हो सकता है? परमार्थके दूधको स्वादिष्ट बनानेके लिये जरा

स्वार्थकी सक्कर डालनी चाहियें; परन्तु दूधमें सक्कर डालनी है नहीं कि सक्कर
दूध । परमार्थके गौरे मुख पर स्वार्थकी काली टिक्कीकी जाय तो मुखकी शोभा
वृद्धि होती है; किन्तु सारे मुखपै कालिमा पोत लें तो मुखकी पहचान ही न
सकेगी । परमार्थको स्वार्थमें डूबा देने पर तो परमार्थके दर्शन ही दुर्ल
हो जायेंगे । स्वार्थको परमार्थके अनुकुल बना लेने पर ही परमार्थकी सि
हो सकेगी । सारांश कि काम लायक पैसे पासमें रखना, आवश्यकतासे अधि
परिग्रह न करना-यह निर्णय हुआ । आगे चलते एक कसबा आया, वहां ए
मारवाड़ी सज्जनके घर थोड़े दिन रहना पड़ा । उनकी सेवासे शरीर स्व
हुआ । उन्होंने ही प्रयागकी टिकीट तथा थोड़े खर्चेका प्रबन्ध कर-करा दिया।

प्रयागसे काशी

प्रयाग माने तीर्थोंका राजा, वे मुझ समान अकिंचनका स्वागत
आतिथ्य न करे-यह स्वाभाविक था । जो कि मैं स्वागतका भूखा नहीं
अपने कामसे ही गया था; परन्तु जैसे मुझे स्वागतकी आशा नहीं थी
तिरस्कारकी भी नहीं थी । राजाओंकी छायामें रहते हुए कब अनादरके पात्र
जायेंगे-यह कुछ कहा नहीं जा सकता । अतः अनादरके पात्र बननेसे प्रथम
यहांसे दूर खिसक जाना उचित है-ऐसी धारणापूर्वक अमुक समय तो तीर्थराज
रंग-ढंग देखे-"गंगा यमुनाका संगम, अर्थात् हृदय और बुद्धिका समन्वय
साधारणरूपसे प्रेम, भक्ति, भावना, करुणा, मुदिता, श्रद्धा, विश्वास आदिका स्थ
हृदय माना जाता है, और तर्क, वितर्क, विवेक, विचार, ज्ञान, विज्ञान आदि
स्थान बुद्धि माना जाता है । भले माना जाय, कोई नुकसान नहीं, जो हृदय त
बुद्धि, दोनोंका सहयोग जीवनमें कायम रक्खा जा सके । बुद्धि बिनाका अके
हृदय अंधा है एवं हृदय बिनाकी बुद्धि पंगु है । दोनोंके सुमेलसे ही जीव

प्रकाशमय-प्रगतिमय बनता है, पूर्णताको प्राप्त करता है। यमुनाका स्वार्पण कुछ निराली ही भात पाड़ता है, समुद्रके साथ तन्मय बननेके लिये दौड़ी जा रही गंगाको भी स्वार्पणके पाठ पढ़ाता है"। तीर्थराज प्रयागके रंग-ढंग देखनेके बाद काशी पहुंचा। मरे हुओंका भी मान करनेवाली काशीदेवी जीवितोंको यथायोग्य मान देती रहे—इसमें आश्चर्य नहीं। काशीमें 'परिव्राजक-महामण्डल' की सेवा मिली, श्रीमान् भारतभूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी 'बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी' में स्थान मिला। देश-देशान्तरके नामांकित विद्वानोंका समागम प्राप्त हुआ। दादाजीके समयकी काशीकी अपेक्षा अबकी काशी कुछ और ही थी। सारा समय अभ्यास करने-करानेमें ही बीतता।

ईस्वी सन १९२१ में महात्मा गांधीजीके असहयोग-आन्दोलनने जोर पकड़ा था। गांधीजी विश्वविद्यालयमें पधारे, स्कूल-कालेज-बहिष्कार का कार्यक्रम प्रस्तुत हुआ और अन्यान्य साथियोंके साथ मैंने भी विश्वविद्यालयका त्याग किया। इसके पुरस्कारमें उस समयकी सरकारके महमानके रूपमें तीन महिने तक कृष्ण-जन्मस्थान (जहल) में एकान्तवास मिला। हमारे असहयोगके चेपी रोगकी छूत दूसरे कैदियोंको न लग जाय, इसकी सावधानीके रूपमें हमें अन्य कैदियोंसे अलग रखनेकी उदारता उस समयके बनारस जिलाजेलके जेलर दिखाते थे। मनुष्यकी स्वतन्त्रताको छीन लेनेवाला जेलखाना भी हमारे लिये आशीर्वाद समान था, क्योंकि शास्त्रोंका अध्ययन करते-कराते समय शास्त्रोंका सार जो मगजमें घूसा पड़ा था, उसका मनन करनेके लिये पूरा अवकाश वहां मिल जाया करता था। कृष्णकी जन्मभूमिमें कृष्ण मिले तो सही, पर उस रूपमें नहीं, जिस रूपमें कंसको मिले थे, जिस रूपमें वसुदेव एवं देवकीको मिले थे, अर्जुन एवं द्रौपदीको मिले थे; उस रूपमें भी नहीं। हमें मिलनेके लिये उन मुरारिने कोई निराला

ही मार्ग चुन निकाला था—सबके सब कैदी, कैदियोंको तालोंमें बन्ध कर रखनेवाले सिपाही, जेलर, जहल, सब कुछ कृष्णमय भासता रहता-कुछ इस तरहका व मार्ग था। सज़ाकी अवधि समाप्त होने पर इस प्रकारके आनन्दको छोड़ क मन बे-मनसे भी बाहर निकलना पड़ा। स्वर्गलोकनिवासियोंकी जो दशा 'क्षीणे पुण्ये' होती है, वही दशा हम जहलमहलनिवासियोंकी 'क्षीणे काले' हुई।

लगभग जेलके समान भोजन अन्नक्षेत्रोंमें मिल जाता था; परन्तु पुस्तकादिके लिये पैसेकी तंगी थी. वैसी आर्थिक तंगी जीवनमें कभी भी नहं भोगनी पड़ी। धनविनाका निर्माल्य मन किसीसे मांगनेके लिये या किसीको किस प्रकारकी सूचना देनेके लिये तैयार नहीं था। हाँ, विना मांगे कोई कुछ रख जाय तो स्वीकार करलेनेमें उसे (मनको) किसी प्रकारकी आना-कानी नहं थी। वैसी महामुश्केलीमें चार दिन बीते होंगे कि तुरंत कोई एकदम अपरिचि गुजराति-से प्रतीत होते यात्री "यह आपके भाईने भेजा है" कह कर ए लिफाफा रखके चले गये। लिफाफा खोलने पर उसमेंसे १२५०) रुपये की नों निकली। धर्मशालायें, पण्डोंके घर आदिक सम्भवनीय स्थानोंमें तलाश की-करा पर यात्रीका कहीं पता तक न मिला। इसी प्रकारके अन्य भी कतिपय अनुभ हुए हैं। लोग इसे अकस्मात् समझते हैं, मैं प्रारब्ध मानता हूं।

गङ्गाद्वारमें

श्रोत्रीय-ब्रह्मनिष्ट महात्माके समागमका लाभ उठा सकनेकी योग्यता तं भगवान् विश्वनाथके अनुग्रहसे काशीदेवीने दे रक्खी थी, इसमें लक्ष्मीदेवीने भ सहकार किया; अतः आबुवाले योगी महाराजकी आज्ञानुसार ब्रह्मविद्वरीष्ठ महापुरुषके दर्शनवास्ते नगधिराज हिमालयकी गोदमें लोट-पोट करनेकी भावना जागृत हं

आई । तीसरे ही दिन मैं बदरी-केदारके द्वार समान हरिद्वार या हरद्वारमें था । गंगाद्वारकी गंगाके, ब्रह्मकुण्डके पुनर्मिलनने भी कुछ अनौखी उर्मियें दीं । जहां जीवन स्वच्छ है, परमार्थमय है, प्रभुमय है, वही जीवनका सच्चा सुख है । जहां सबके लिये समान भाव है, ऊंच-नीचका खयाल नहीं है, वही भेदभावकी जननी और अहन्ताका उत्थान करनेवाली ममता मर जाती है जहां ममता मर जाती है, वहीं जीवन अमर हो जाता है । ममताका मर जाना ही मोक्ष है । अन्तरहित मोक्ष अनन्त है, अनन्तसीमित हो नहीं सकता । जिसकी आदि है, उसका अन्त भी है, मोक्षकी न तो आदि है और न अन्त ही है । प्रभुमय जीवन भी आदि-अन्त, जन्म-मृत्युके बंधनोंसे मुक्त होता है । सूर्यके प्रकाशमें कमलकी तरह मोक्ष (प्रभु) के प्रकाशमें जीवन खिल उठता है । मुक्त (प्रभुमय) जीवनमें राग, द्वेष, ऊंच, नीच, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादिके समस्त बंधनोका अन्त आ जाता है, इच्छाका अस्तित्व मिट जाता है । इस परिस्थितिमें सबका समन्वय होता है, विरोधका परिहार होता है, अभेदका उदय होता है, भेदका अन्त आता है, किसीको कुछ भी देनेका अभिमान नहीं रहता, किसीके पाससे कुछ लेनेकी आशा भी नहीं रहती, अपने अतिरिक्त अन्यकी संकलना भी नहीं होती ।

कठिन कांटेकी भान्ति हृदयमें गडती सभी शंकाओंका समाधान स्वामी प्रकाशनन्दपुरीजी महाराज यथावकाश करते और उन कुशंकाओंके जालसे मुझे बचाते । जब भी उनके दर्शनको जाऊं प्रसन्न वदनसे स्वागत करें, जो पुछुं उसका सन्तोषजनक उत्तर दें, एकवार न समझूं तो प्रेमपूर्वक दूसरीबार समझावें, दूसरीबार भी न समझ सकूं तो उससे भी अधिक प्रेमसे तीसरीबार समझावें जब तक न समझुं तब तक समझाते ही रहें, नफरतको तो मानो पहचानते ही न हों । मुझे जिसकी धून थी वह मिल गया हो, ऐसा अनुभव होने लगा । रहने

के लिये हृषीकेशको केन्द्र बनाकर उनके शरणकी शीतल छायाका लाभ लेते रहनेका निर्णय किया। स्वामी प्रकाशनन्दपुरीजी महाराजको मैंने मन–ही–मन गुरु मान लिया और उन्होंने इस बातकी संमति देनेका अनुग्रह कर मुझे सनाथ किया। कपड़े तो गिरिनारायण (गिरनार) से ही काषाय कर लिये थे। अब स्वामी प्रकाशनन्दपुरीजी महाराजके हाथसे शास्त्रविधि अनुसार संन्यास दीक्षा मिल गई।

सप्तस्रोतका रहस्य

हरद्वारमें सप्तस्रोत पर 'दशनामसन्यासाश्रम' नामसे प्रसिद्ध कैलासाश्रमकी शाखा है। उस समयके कुंभपर्व पर मैं वहां था। लक्ष्मणझूलेकी विकराल दंष्ट्र समान भयंकर घाटीकी पकड़मेंसे भाग छूटी हुई गंगा यहां जरा अवकाश मिलनेसे सातधाराओंमें विभक्त होकर बहती है, अतः उस स्थल को सप्तस्रोतका बिरद मिला है। कुंभपर्व पर गंगामैयाको मिलनेके लिये उमड़ आती हुई मानवनदियोंके स्वागत को पूर्णरूपसे पहुंच सकनेके लिये गंगामाताने सात रूप धारण किये होंगे। अपने अन्तरमें भी आनन्दके स्रोत प्रस्फुटित हों एवं जीवनमें प्रेमके प्रवाह बहते रहें; तो फिर बाहरके किसी भी पदार्थकी आवश्यकता रहती नहीं। आवश्यकता का अन्त यहां तक आता है कि मोक्षकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

यमुनोत्रीका चमत्कार

यमुनोत्री, गंगोत्तरी, केदारनाथ, बद्रीनाथ, अमरनाथ, कैलास, मानसरोवर आदिकी यात्राके बहाने मैंने हिमालयकी गोदका सेवन खूब किया है। यमुनोत्री का स्थल ऐसा चमत्कारी है कि वहां घड़ीमें पानी थीझकर बरफ बन जाता है और घड़ीमें बरफ पिघलकर बरफ जितना ठण्डा पानी बनता है ऐसे

स्थलमें भी ऊबलता हुआ जल जमीनमेंसे अद्‌भुतरीतिसे उछलता है। वाष्पयन्त्रमेंसे क्रोधायमान भाप छुटती हो ऐसी आवाज जमीनमेंसे आती है और झरनेमेंसे एक पुरुषा ऊन्चे ऊड़ती बुंदें ऐसी टण्डीमें भी, मनुष्यकी चमड़ीको जलाती हैं। उस जगह शुद्ध जलमें स्नान करना अशक्य है। ठण्डे जलसे नहावें तो सदाके लिये ठण्डे ही हो जाँय और गरम पानीमें नहावें तो वहां-के-वहीं आलुकी तरह रिंध जांय। श्रद्धालु यात्रीलोग एक कोरे कपड़ेके टुकड़ेमें चावलकी गठरी बांधकर उस उबलते जलमें डाल देते हैं, डालनेके साथ गठरी नीचे डूब जाती है, थोड़ी देरके बाद चावल उबलकर घुघनी समान भात बनते हैं तब गठरी उपर तैर आती है। यह भात प्रसादरूपमें खाया जाता है, परन्तु इसमें गंधककी गंध आती है। इसी प्रकार आलु उबालके खानेका भी रिवाज है। इस तरहके हैरतभरे चमत्कार यमराजकी भगिनी यमुनोत्री न करे तो और कौन करेगा ?

गंगोत्रीकी धून

यमुनोत्तरीकी यात्रा पूर्ण करके मैं गंगोत्री पहुंचा। गंगोत्तरीकी गंगा हिम-प्रदेशमें भूली पड़ी हुई कोई देवकन्या समान दीखती है, महादेवजी के मस्तक सदृश उन्नत भगीरथशिखर परसे नीचे उतरती, मरोड़ लेती, अपने विश्राम स्थानको खोज निकालनेकी धूनमें दौड़ रही है। किसीसे पूछनेकी परवाह नहीं है, फुरसत भी नहीं है कि मेरा विश्रामस्थान कहां है, मैं किस मार्गसे खोजूं ? उसके अन्तरमें उसका विश्रामस्थान ही समाया हुआ है। उसकी अन्तरात्माने कहा—"किसीको पूछनेका विलम्ब न कर, खड़ी न रह, रुके मत, चलने लग, पृथिवीके चारों ओर समुद्र ही है। तू जहां जावगी, वहां तुझे तेरा विश्रामस्थान मिल ही जायगा"। वह आवेशसे उतावली, धूनकी पक्की, प्रेममें मस्तानी,

गांडीतूर गंगोत्री उछलती-कूदती, छलांगे भरती दौड़ पड़ी। शिलायें उसे देख-देख हंसती थीं। बड़े-बड़े पत्थर आलिशान चट्टानोंके साथ उसके मार्गके बीच जा बैठे उसका रस्ता रोकनेके लिये, उसे अपने इष्टदेवसे न मिलने देनेके लिये, कैसा पत्थर-सा निष्ठुर हृदय था उनका? किन्तु गंगा तो अपने तानमें मस्त थी। जो शिलाखण्ड उसके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये आ पड़े थे उन्हें भी गले लिपटाये बिना, आलिंगन दिये बिना वह आगे न बढ़ी। प्रेमपूर्ण हृदयमें घृणा कहां? जिन पत्थरोंने उसे टक्करें खिलाईं, उनके प्रति भी उसने प्रेम प्रदर्शित किया, अपने स्नेहभरे शीतल स्पर्शसे उनका सन्ताप दूर किया, अपने प्यारसे उनकी विषमता मिटा कर उन्हें सुडौल बनाया। जो पत्थर उसे हँसते थे, दीवानी कहते थे, वे वहीं पड़े रह गये और प्रेममतवाली गंगा जो साथमें आ (वह) सकने योग्य थे उन्हें लेती हुई टेढ़ी-मेढ़ी हिमालयकी घाटियोंमेंसे बाहर निकल आई। मार्गमें जन्हु ऋषिकी जंघाको फाड़ कर हजारों माईलकी यात्रा करके गंगा जिसे मिलनेके लिये विह्वल थी उसे मिल कर, उसके साथ एक अभिन्न बन कर विश्रान्त हुई।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः
समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति।
(प्रश्नोपनिषद् ६।१४)

"जैसे गंगादि नदियां अपने मूलस्थान समुद्र तरफ दौड़ती हुई समुद्रमें मिलकर विलीन हो जाती हैं"। इस दृष्टान्तके अनुसार हम भी अपने ज्ञान (बुद्धि) तथा प्रेम (हृदय) के प्रवाहको आनन्दसागर तरफ वेगवान करें, सतत दौड़ाते रहें तो हम भी इसी जन्ममें-इसी शरीर से उस आनन्दसागर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इस आनन्दसागरको प्राप्त करनेकी कल्पना या इच्छा कुछ अनुचित

नहीं है, अनुचित है उसे प्राप्त करनेका प्रकार। यह कोई मनघढंत मौजी तरंग मात्र नहीं है, यह चीज तो ऐसी है कि जिसका अनुभव इस जन्ममें ही मिल सकता है। उपनिषदोंकी विशेषता इसीमें है कि मरनेके बाद स्वर्गमें पहुँचानेकी आशा उनके द्वारा नहीं दी जाती, किन्तु प्रत्यक्ष जीवनमें ही मुक्तिके आनन्दका अनुभव करवाया जाता है। जैसे भोजन करनेके साथ ही तृप्तिका अनुभव होता है, वैसे वर्तमानजीवनमें आत्मानुसंधान करते ही आत्मानन्दकी निरंकुश तृप्तिका अनुभव होता है। ऐसा नहीं है कि भोजन करें अब और तृप्तिका अनुभव होगा मरनेके बाद, वैसे ब्रह्मानुसंधान आज करें और आनन्दका अनुभव हो मरनेके बाद स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोकमें जाने पर–ऐसा भी नहीं है। यह तो जब जलपान करें तब ही तृषाकी निवृत्ति एवं तृप्तिकी अनुभूति हो, वैसि बात है। गंगा आदि नदियोंकी तरह सतत चलते, निरवछिन्नरूपसे दौड़ते रह कर वर्तमान जीवनमें, विद्यमान शरीरमें प्रत्यक्ष अनुभव लेनेके लिये प्रयासकी आवश्यकता है।

मायाकी धृष्टता

कैलास-मानसरोवरकी यात्रासे लौट आनेके बादसे उपाधियां प्रचुरमात्रामें बढ़ती रहीं। मानो फसानेकी ताकमें तत्पर बैठी हों उस प्रकार मायाने एकके-बाद-एक पासे फैंकने प्रारम्भ कर दिये। ज्यों-ज्यों मैं मायाके पासोंमेंसे मुक्त होनेके लिये मथता; त्यों-त्यों वह मुझे अधिक मजबूत बंधनोंमें जकड़ती जाती। ऊंटने पीठ की ऊंची तो मनुष्यने बनाई सीढी, राज्यने किया कन्ट्रोल तो मनुष्यने किया ब्लेक। मैंने छोड़ा घर तो मायाने दिया आश्रम। संरक्षकोंके अभावमें आश्रमका सारा भार मुझ अकेले पर आ पड़ा। जो महानुभाव आश्रमका भार वहन करनेमें समर्थ थे वे अंगुली पकड़ते ही हाथ पकड़ लेनेवाली मायाके डरसे मुझे मदद करनेमें बिल्कुल सहयोग न करते। जो महानुभाव आश्रमके कारभारमें

तन, मन, धनका पूरा योग देते थे उन्होंने भी अपना हाथ एकदम खींच लिया संकुचित कर लिया। मुझमें उतनी शक्ति नहीं थी कि मैं अकेला समस्त भार वहन कर सकूं। माया कहती-तू अपनी अनुकुलताके अनुसार आश्रम चला सकता है, आश्रमके कार्य आश्रमवासी ही कर लेंगे, तुझे तो निमित्तमात्र बनना है, घबरानेका कुछ भी कारण नहीं है, तेरे लिये तो एक हाथमें आराम दूसरेमें प्रतिष्ठा-दोनों हाथोंमें लड्डू हैं। आत्मा कहती-घरके चूलेमेंसे निकल कर आश्रमके ऊलेमें आ फंसा, आराम लेने जायेगा तो जीवन्मुक्तिके आनन्दको खो बैठेगा, प्रतिष्ठा लेने जायगा तो जवाबदेहीकी चिन्तायें ही हाथमें आयगी। मुझे हुआ कि मेरे विना आश्रम उजड़ जानेका तो है ही नहीं, मेरे अभावमें तो जो महानुभाव मुझसे अधिक योग्य हैं वे अवश्य आगे आवेंगे; मुझे उनके लिये स्थान खाली कर देना चाहिये, आश्रमकी मायाके मोहको फैंक देना चाहिये।

आद्यबद्रीमें गुप्तवास

उपर्युक्त निर्णयके साथ मैं आद्यबद्री गया और साढे तीन वर्ष वहीं एकान्तमें गुप्तवास किया। किसीको पता न चला कि कहां है। चौथे साल बम्बई आया तब लेडी लक्ष्मीबहीनद्वारा सबको पता लगा; परन्तु तब तक तो खूब विलम्ब हो चुका था। दरमियान १०८ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराजको आश्रमका अध्यक्षपद स्वीकारना पड़ा था। अब हरद्वारके पिछले कुम्भसे तो उन्होंने भी उस पदका त्याग कर दिया है। स्वामी विष्णुदेवानन्दजीने अध्यक्षपदका स्वीकार कर लेनेके बाद मुझे आग्रह किया कि "अब तो तुझे आश्रममें आकर रहना चाहिये, आश्रमकी जवाबदारी तेरे उपरसे उतर जानेके कारण अब तू निश्चिन्तरूपसे अपनी इच्छाके अनुसार रह सकेगा; अतः अवश्य आ।" इस आग्रहको मान देनेके लिये मैं फिर हृषीकेश-कैलासाश्रममें जाने-आने लगा; परन्तु अब प्रथमका-सा बंधन नहीं है।

आद्यबद्रीकी संस्थायें ग्रामसभाके अधिकारमें

आद्यबद्रीमें बालक–बालिकाओंके लिये पाठशाला, अनाथ बच्चोंके लिये छात्रालय, रोगियोंको रहनेके लिये रुग्णालय, उपचारके लिये औषधालय आदिकी स्थापना हुई। ये चारों संस्थायें, उनके मकान, उपयोगी सामान आदि सब कुछ इस समय वहांकी ग्रामसभाके अधिकारमें हैं। उस सभाने एक प्रस्ताव द्वारा उन संस्थाओं आदिकी मांग की और मैंने उस मांगको सहर्ष स्वीकार किया। अब वह सभा उन संस्थाओंको चलाती हैं और अपने काम (आफीस–अधिवेशन आदि) के लिये मकान तथा फरनीचर आदिका उपयोग कर रही है। मैं मुझसे बनती सहायता करता हूं और जब–तब वहां हो भी आता हूं।

बम्बईमें आगमन

मैं दूसरी दफा हृषीकेश गया तथा बम्बईके भाटिया गृहस्थ श्रीमान् शेठ छबीलदासभाईकी माताजी झवेरबाई यात्राके निमित्त वहां गईं और चातुर्मास्य करानेके लिये मुझे बम्बई ले आईं। मैं उनके घर नेपियनसी रोड पर उनके 'लक्ष्मीनिवास' बंगलेमें रहा। उसी समय माधवबागवाले शेठ सर जगमोहनदासका 'श्रीनिवास' बंगला उसी रोड पर बन कर तैयार हो गया था और उसमें वे रहने भी लग गये थे। उनकी धर्मपत्नी लेडी लक्ष्मीबाई द्वारा उनके साथ परिचय हुआ। पश्चात् वे पूनेकी सीझनमें पूनेके अपने बंगलेमें रहने गये और मुझे भी वहांके लिये आग्रह करते गये। मैं पंढरपुरकी यात्रासे लौटते समय उनके आमन्त्रणको सार्थक करनेके लिये पूना गया और उनके वहां पन्द्रेक दिन रहा। वहांसे विदा होते सर जगमोहनदासने मुझसे कहा–"मैं तो समझता था कि घरमें साधुमहात्माको रखना; मानो, घरके आंगनमें हाथी बांधना है; परन्तु आपके इतना

समय मेरे वहां रहनेसे मेरी भ्रान्ति दूर हो गई, मुझे मालूम हो गया है कि महात्मा पुरुषको घरमें रखनेका अर्थ है-घरमें गाय बांधना और घासभूसा खिला कर अमृतसे भी अधिक उपयोगी ज्ञानोपदेशका दुध दुह लेना। मेरी इच्छा है कि मैं आपका संग अधिक करूं; अतः आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप प्रत्येक चातुर्मास्य मेरे यहीं करते रहनेकी कृपा कीजिये। सदाके लिये अभीसे ही आमन्त्रण दे रखता हूं। मुझे भी उनके वहां एकान्त, स्वतंत्रता आदिकी अच्छी सुविधा होनेके कारण अनुकूलता थी; इस लिये प्रारब्धानुसार आनेका स्वीकार कर लिया। लगभग बत्तीस वर्षसे लगातार उनके वहां प्रत्येक वर्ष चार-पांच महीने आना पड़ता था। सर जगमोहनदासका स्वर्गवास हो जानेके पश्चात् लेडी लक्ष्मी-बहीन भी मुझे प्रत्येक वर्ष बराबर बुलाती थी और मैं भी आता था, शास्त्रचर्चा कर जाता था।

सत्सङ्गहालका परिचय

इस वर्ष लेडी लक्ष्मीबाईका शरीर अधिक अस्वस्थ था, अतः उन्होंने मुझे जलदी बुलाया। मेरे आनेके कुछ ही दिनोंमें लेडी लक्ष्मीबहीनका शरीर शान्त हो गया। कतिपय सत्संगप्रेमी सज्जनोंने अनुरोध किया कि यह अन्तिम चातुर्मास्य आपको यहीं करना चाहिये, अतः मैं यहीं लक्ष्मीबाईके मकानमें ही रह गया। और सायंकाल प्रवचन करता रहा। प्रातःकालका प्रवचन होता है सत्संग हालमें। मरीयनड्राईव-नरीमान पाईन्ट पर श्रीमान् शेठ तुलसीराम देवीदयाल एन्ड सन्सने प्रेमकुटीर नामका एक नया मकान अभी बनवाया है। उसके नीचे सत्संग हाल है, साथमें कोई सत्संग करानेवाले सन्त महात्मा वहां रहना चाहें तो रहनेके लिये भी सभी तरहका प्रबन्ध है। मरीनड्राईवकी नयी बस्तीमें इस प्रकारका कोई स्थल नहीं था, जहां कि कायम एवं नियमित सत्संग होता रहे-इस कमीको

तुलसीराम देवीदयालि एण्ड सन्सवालोंने पूरा किया है, तों इसका लाभ समी सज्जनोंको उठाते रहना चाहिये । अन्नक्षेत्र आदिका प्रबन्ध तो कई सज्जन करते हैं और यश एवं पुण्यके भागी बनते हैं; किन्तु ज्ञानसत्रका प्रबन्ध करके तुलसी-राम देवीदयाल अग्रवालने अपनी दूरदर्शिताका परिचय दिया है । वर्तमान समयमें सत्संगहालमें प्रवचन नित्य नियमित प्रातः साढे सात बजे होता है और संभवतः होता ही रहेगा; पिछे तों जैसे प्रारब्ध ।

मैं कोई पहुंचा हुआ जीवन्मुक्त महात्मा नहीं हूं । मैं तो एक साधारण साधक हूं । हाँ, मेरी साधनाओंने मुझे खूब सन्तोष दिया है । साधनाओंके प्रतापसे मेरी आध्यात्मिक शक्तियोंका अमुक विकास हुआ है । मैं सिद्धहस्त लेखक नहीं हूं, धुरन्धर विद्वान् भी नहीं हूं । प्रेमियोंके आग्रहने जो कुछ लिखवाया है, उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है, सन्तोंकी प्रसादी भक्तोंको समर्पित हो और इससे विश्वात्मा प्रसन्न रहे ।

॥ ॐ शम् ॥

ब्रह्मलीन श्री स्वामीजी की अन्तिम छवी

पूज्य श्री स्वामीजी के अन्तिम दर्शन

ब्रह्मलीन श्री स्वामीजीकी ऋषिकेश में शवयात्रा

गंगाजी में जल समाधी देते समय का चित्र
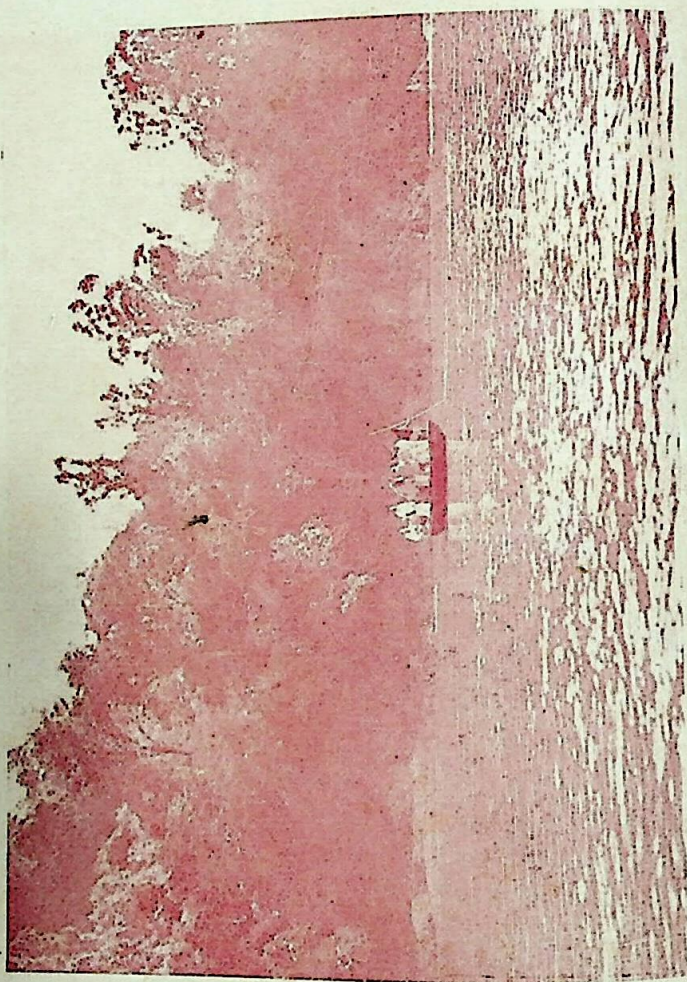
अथ —

ब्रह्मास्मि - माला

प्रारभ्यते ।

(१)

मङ्गलं मङ्गलाचर्या तथा मङ्गलकारकम् ।
मङ्गलं मङ्गलाराध्यं सर्वं ब्रह्मास्मि मङ्गलम् ॥

(२)

नमस्कारो नमस्कर्ता नमस्कार्यो नमस्कृतिः ।
नमस्करणसाध्यं यत् सर्वं ब्रह्मास्मि नम्रतः ॥

(३)

अहं ब्रह्म मम ब्रह्म महद्ब्रह्मामहत् तथा ।
इदं ब्रह्मानिदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥

(४)

कोहं कस्त्वं किमेतच्च न जानेहं कथञ्चन ।
अवश्यमेवं जाने तु, सर्वं ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(५)

राहोर्ग्रासाद्विनिर्मुक्तो यथा चन्द्रो विनिर्मलः ।
मनो मे निर्मलं तद्वज् ज्ञातं ब्रह्मास्मि निर्मलम् ॥

(६)

विविच्य भूतिपूर्णं तद् विचार्य चितिपूर्णकम् ।
विलोक्यानन्दपूर्णं तज् जातो ब्रह्मास्मि तन्मयः ॥

(७)

विद्याऽविद्याविरोधेपि स्वरूपं न निवर्त्यते ।
तत्त्वमेव तया तस्यास्तत्त्वं ब्रह्मास्मि संस्थितम् ॥

(८)

दावेन दह्यते दारु रज्जुना बध्यते पशुः ।
न स्वं किन्वन्तरांतमा तु सोहं ब्रह्मास्मि चेतनः ॥

(९)

नश्यति हिममुष्णेपु वर्षासु लवणादिकम् ।
नाहं हिमं न सामुद्रं घनं ब्रह्मास्मि कालकृत् ॥

(१०)

सत्त्वं ज्ञानं सुखं स्वत्वं स्वातन्त्र्यं चेशतामतां ।
लिप्सा स्वाभाविकी तस्या मया ब्रह्मास्मि लिप्स्यते ॥

(११)

सच्चिदानन्दधर्मं तत् सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
सच्चिदानन्दमात्रं तत् सद्धि ब्रह्मास्मि चित्सुखम् ॥

(१२)

मीन इव पिपासार्त आनन्दसागरे वसन् ।
यावन्नान्तर्मुखस्तावद् अतो ब्रह्मास्मि भाव्यताम् ॥

(१३)

अन्तर्दग्धे जगद्दग्धम् अन्तःशीते तु शीतलम् ।
शीलं सम्पादनीयं हि नित्यं ब्रह्मास्मि शीलनात् ॥

(१४)

सचित्राज्ञानकर्पूरं दग्धं ज्ञानाग्निनाऽखिलम् ।
भस्मापि नावसिष्टं वै शुद्धं ब्रह्मास्मि संस्थितम् ॥

(१५)

धूकव्यवहृतेः शान्तिर् आदित्यस्योदये यथा ।
ज्ञानस्याज्ञानचेष्टायाः शिष्टं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम् ॥

(१६)

चिन्मात्रं परमं बीजं चिन्मात्रं परमं फलम् ।
चिन्मात्रं परमं पत्रं मूलं ब्रह्मास्मि चिन्मयम् ॥

(१७)

चिन्मयी च स्वयं सृष्टिश् चिन्मयी च स्वयं कृतिः ।
चिन्मयश्च स्वयं कर्ता सर्वं ब्रह्मास्मि चिन्मयम् ॥

(१८)

दुग्धे घृतं तिले तैलं पुष्पे गन्धो यथा स्थितः ।
सर्वत्रावस्थितं तद्वत् तद्धि ब्रह्मास्मि सौलभम् ॥

(१९)

सद्भावेन जडेऽव्याप्तं चिद्भावेनाजडे तथा ।
मुक्तेऽप्यानन्दभावेन तद्धि ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥

(२०)

शुक्तौ रूप्यं मरौ नीरं रज्जौ सर्पो यथा तथा ।
मिथ्या ब्रह्मणि जीवोपि सत्यं ब्रह्मास्मि वास्तवम् ॥

(२१)

स्तम्भःस्तेनो नभोनीलं शङ्खः पीतः सिता कङ्कुः ।
ब्रह्मैव जीवको दोषात् समं ब्रह्मास्मि दोषहृत् ॥

(२२)

वन्ध्यापुत्रः खपुष्पं वा शशशृङ्गं यथा तथा ।
नास्ति कालत्रये जीवोऽप्यस्ति ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(२३)

स्वच्छे ब्रह्मणि चानिच्छे चित्रं चित्रपटे यथा ।
नैकशो विम्बितं चित्रं चित्रं ब्रह्मास्म्यचित्रितम् ॥

(२४)

अखण्डैकरसा सत्ता अखण्डैकरसा चितिः ।
अखण्डैकरसा शान्तिः शान्तं ब्रह्मास्म्यखण्डितम् ॥

(२५)

अखण्डैकरसं ज्योतिर् अखण्डैकरसं सुखम् ।
अखण्डैकरसं तत्त्वं ज्योतिर्ब्रह्मास्मि तात्त्विकम् ॥

(२६)

केवलं सत्स्वरूपोसि केवलं ज्ञानविग्रहः ।
केवलानन्दरूपोहम् अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥

(२७)

निश्चितं ब्रह्मरूपोऽस्मि निश्चितं विष्णुरूपवान् ।
निश्चितं शिवरूपोहम् अहं ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(२८)

भक्तेज्यं सगुणाकारं योगीड्यं निर्गुणाकृति ।
मुक्तगम्यं निजानन्दं परं ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(२९)

सदोदितं स्वयंज्योतिर् निर्धूमं विद्युतोपमम् ।
ज्योतिषामुदयस्थानं परं ब्रह्मास्मि दैवतम् ॥

(३०)

सूर्यसौदामिनीचन्द्र-तारातेजस्विवस्तुनः ।
निःस्रवादुत्थसाराढ्यं परं ब्रह्मास्मि दुर्लभम् ॥

(३१)

सौन्दर्यसरिदुत्थानं माधुर्ययमुनोद्गमः ।
श्रेयःसरस्वतीरम्भोऽपूर्वो ब्रह्मास्मि संगमः ॥

(३२)

निरतिशयलावण्यं निरतिशयमाधुरम् ।
निरतिशयकल्याणं तेषां ब्रह्मास्मि मेलनम् ॥

(३३)

ब्रह्माण्डरेणवो रोम्णि यस्यासंख्यातकोटयः ।
विवर्तन्ते विलीयन्ते व्योम ब्रह्मास्मि वेष्टनम् ॥

(३४)

नेतिनेतिनिषिद्धं तत् पिण्डब्रह्माण्डगोचरम् ।
बाधावधिर्हि सच्छिष्टं सिद्धं ब्रह्मास्मि बाधकृत् ॥

(३५)

गवामनेकरूपत्वे क्षीरस्यत्वेकरूपता ।
जगतोऽनकरूपत्वेऽप्यहं ब्रह्मास्मि चैकलम् ॥

(३६)

निराधारमनाधारान् नाथामावादनाथकम् ।
सर्वनाथोऽप्यधिष्ठानं मूलं ब्रह्मास्मि धारकम् ॥

(३७)

जीवेशयोश्च भेदेपि ब्रह्माभेदो हि वास्तवः ।
बिन्दुसिन्ध्वोर्जलेनेवा-भिन्नं ब्रह्मास्मि निर्द्वयम् ॥

(३८)

तापत्रयविहीनोहं पुण्यपापप्रहीणकः ।
सर्वचिन्ताविमुक्तोहं मुक्तंब्रह्मास्मि मुक्तिदम् ॥

(३९)

निर्गुणो निष्क्रियोप्यस्मि निष्कलो निरुपाधिकः ।
निर्विकारोपि नीरूपः स्वयं ब्रह्मास्मि निष्फलम् ॥

(४०)

सति ज्ञाने भवेन्मोक्षः सति सूर्ये दिनं यथा ।
आचार्यकृपयाऽऽप्तं तज् ज्ञानं ब्रह्मास्मि निर्मलम् ॥

(४१)

रागाम्बु संभृतं चित्ते निःसार्यं पणतो यदि ।
तत्स्थाने शङ्कराकीर्णे शनैर्ब्रह्मास्मि भावनात् ॥

(४२)

वृश्चिकदंशतो ध्यानं यथा स्खलति सत्वरम् ।
मायानिद्रा तथाऽऽदेशात् शुद्धं ब्रह्मास्मि जागृतम् ॥

(४३)

ज्ञातव्यमधुना ज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ।
धन्योस्मि कृतकृत्योस्मि ज्ञातं ब्रह्मास्मि चाद्भुतम् ॥

(४४)

अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलो गुरुः ।
अद्य मे सफलो योगः अद्य ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(४५)

रेचकपूरककुम्भाद्यः पिङ्गलेण्डासमन्वितः ।
साङ्गोपाङ्गोऽफद्योगः कृते ब्रह्मास्मि भावने ॥

(४६)

कल्पनातीतसाम्राज्यं कल्पनातीतसाधनम् ।
कल्पनां त्यजता प्राप्तं मया ब्रह्मास्मि कल्पनात् ॥

(४७)

संसारः सकलः स्रस्तः पक्वं पत्रमिवाक्रमात् ।
असंभवोऽङ्कुरस्यापि वन्ध्यं ब्रह्मास्मि निष्फलम् ॥

(४८)

गन्धर्वे पुर उत्सन्ने का मे हानिः प्रजायते ।
तथाऽस्मदीयसंसारे स्थाणु ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(४९)

विगतान्नानुशोचामि चिन्तास्यनागतान्न हि ।
संप्राप्तान्नाभिनंन्दामि कुर्वे ब्रह्मास्मि भावनम् ॥

(५०)

अश्वमेधादिकैः पुण्यैर्न लुब्धोहमुपस्थितैः ।
पापैर्लिप्ये कङ्कारं सक्तो ब्रह्मास्मि चिन्तने ॥

(५१)

आनन्द ईदृशोऽवाप्तो न ह्रियते न लुप्यते ।
आच्छिद्यते न केनापि सुखं ब्रह्मास्मि चिन्तनात् ॥

(५२)

मूमेरंशत्रये क्षुद्रः क्षुब्धः क्षारश्च सागरः ।
हृद्यस्तु मे विपर्यस्तः सुखं ब्रह्मास्मि भावनात् ॥

(५३)

स्वरूपानन्दतृप्तस्य विषयैः किं प्रयोजनम् ।
सुधातृप्तस्य किं मद्यैस्तृ तृप्तं ब्रह्मास्मि तर्पकम् ॥

(५४)

नित्यतृप्तस्य मे तृप्तिर् दग्धस्य दहनं यथा ।
नित्यमुक्तस्य मे मुक्तिर् मुक्त ब्रह्मास्मि मुक्तिदम् ॥

(५५)

संसारसाधने वृद्धे मोहो मूढस्य वर्धते ।
विवेकिनस्तु वैराग्यं गम्यं ब्रह्मास्मि सज्जनैः ॥

(५६)

योगचिन्ता तदा दग्धा क्षेमचिन्ता मृता तदा ।
योगक्षेमस्य सर्वेषां ध्यातं ब्रह्मास्मि वाहकम् ॥

(५७)

सुखं स्वपिमि जागर्मि सुखं भुञ्जे च भोजये ।
एवं सुखमयः कृत्स्नः सुखं ब्रह्मास्मि चाधुना ॥

(५८)

मुक्तभीर्मुक्तक्रोधोहं मुक्तेहो मुक्तमत्सरः ।
मुक्ताहम्भावनः साक्षान् मुक्तं ब्रह्मास्मि निश्चलम् ॥

(५९)

ज्ञानप्राप्ति र्न मे धर्मो न कर्तव्यं न साधनम् ।
किन्तु शुद्धस्वभावस्तज् ज्ञानं ब्रह्मास्मि निर्मलम् ॥

(६०)

निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः ।
लोके वर्ते निरिच्छोपि पूर्णं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम् ॥

(६१)

आत्मवत्सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेव पश्यामि व्याप्तं ब्रह्मास्मि निर्भयम् ॥

(६२)

मनो मे लीयतेऽपारे सैन्धवं सलिले यथा ।
शान्ते स्फटिकसंकाशे ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६३)

मग्नोन्मग्नोऽस्मि निःसीम्नि परमान्दसागरे ।
मानसे हिमखण्डो वा ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६४)

दृष्टिःस्थिरा विना दृश्यं प्राणाः स्थिरा विना यमम् ।
वृत्ति स्थिरा विनाऽऽलम्बं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६५)

अन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या अनुभवाम्यनन्तरम् ।
सच्चिदानन्दसन्दोहं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६६)

श्मशानं नन्दनं जातं लोष्टं च काञ्चनायते ।
विश्वं ब्रह्ममय भाति ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६७)

पुरुषोऽस्मीति मे भानं विधात्रापि न वार्यते ।
ब्रह्मास्मित्यपिचैकान्तं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६८)

ब्रह्मज्ञानोपनंत्रेण युक्ते यातो यतो दृशे ।
ब्रह्मैव पश्यत्तस्तत्र ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(६९)

मन्दिरं सकलं विश्वं वस्तुमात्रं तु मूर्तयः ।
सेवाः सर्वाः क्रिया जाता ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥

(७०)

स्वभावादेव जायन्ते मत्तः क्रियाः शुभा हिताः ।
साधनबुद्ध्यभावेपि ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(७१)

कर्माणि कुर्वतोऽपेक्षा नोपेक्षा न तटस्थता ।
अथ वर्ते यथाशास्त्रं ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(७२)

न त्यजामि न वाञ्छामि लौकिकीं वैदिकीं क्रियाम् ।
यथारब्धं तु तिष्ठामि ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(७३)

न च मे जीवनाशास्ति मरणाशापि मे न च ।
कुकर्मांशोव भक्तस्य ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥

(७४)

नापदि ग्लानिमायामि सम्पदि न प्रसन्नताम् ।
सदा समरसः स्वस्थस् ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ।

(७५)

मेघा मुञ्चन्तु वज्राणि द्रवन्तु चान्द्रयो द्रवान् ।
आभ्यां न मे क्षतिःकाचित् ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ।

(७६)

आकर्णयामि जिघ्रामि स्पृशामि च विलोकये ।
भावये ब्रह्म तत्सर्वं तदा ब्रह्मास्मि निर्गुणम् ॥

(७७)

श्रुत्वा ध्यात्वा च मत्वा च ज्ञात्वा भुक्त्वा रसास्पदम् ।
आकण्ठं परितृप्तोस्मि शपे ब्रह्मास्मि निर्गुणम् ॥

(७८)

सुधापानं मया पीतं मया भुक्तं ततोऽधिकम् ।
तुष्टोस्मि परितृप्तोस्मि भृशं ब्रह्मास्मि चामृतात् ॥

(७९)

स्फुरति नैव भोगेच्छा भोक्तृभावोपि नैव च ।
स्फुरत्येकं परं तत्त्वं यदा ब्रह्मास्मि भावये ॥

(८०)

सिद्धयो भान्ति मे तुच्छा ब्रह्मलोकादिकं तथा ।
पूर्णवैराग्यपूर्णोहं पूर्णं ब्रह्मास्मि निर्मदम् ॥

(८१)

भिन्दन्तु योगिनः सूर्यं कर्मठा यान्तु वै दिवम् ।
साधकाः सिद्धिमाप्ताः स्युर् मया ब्रह्मास्मि चिन्त्यते ॥

(८२)

सर्वोपाधिसमुत्सृष्टः सर्वव्याधिविवर्जितः ।
सकलाधिविनिर्मुक्तो युक्तं ब्रह्मास्मि धारणे ॥

(८३)

अहन्तापहृता चोरैर् ममता मारिता तथा ।
भीताऽविद्या गता क्वापि शिष्टं ब्रह्मास्मि शाश्वतम् ॥

(८४)

आत्मघाते हि सर्वस्व भ्रान्तिर्भूता सती सह ।
सम्बन्धिनोपि तच्छोकात् कुर्या ब्रह्मास्मि वेदनम् ।

(८५)

आसक्तिर्विपरीताऽद्य विपरीता च वासना ।
विपरीताऽऽसुरीसम्पत् सुहृद्ब्रह्मास्मि संस्थितम् ।

(८६)

स्वतो निन्दाकृताक्षेपो गर्विगुणबहिष्कृतः ।
दोषादोषाभिशप्तोहं मत्वा ब्रह्मास्मि निर्गुणम् ॥

(८७)

मुमुक्षां मत्समीपस्थां दुष्टवत्या बुभुक्षया ।
कृतः सम्बन्धविच्छेदः स्निग्धं ब्रह्मास्मि पूर्ववत् ।

(८८)

देहो देवालयो दिव्यो जीवो हि सुन्दरः शिवः ।
कैलासो हि गृहं साक्षाद् इति ब्रह्मास्मि भावये ॥

(८९)

तर्कैर्युद्धैश्छलैर्मन्त्रैः सामादिभिश्च भेषजैः ।
सुजेयं तदजेयं यन् नित्यं ब्रह्मास्मि भावनात् ॥

(९०)

ब्रह्मास्म्येव परं तीर्थं ब्रह्मास्म्येव परं तपः ।
ब्रह्मास्म्येव परं ध्यानं कुर्वन्ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥

(९१)

मन्दिरे मस्जिदे चर्चे सर्वत्र समवस्थितम् ।
पक्षपातैरसंस्पृष्टं समं ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥

(९२)

ब्रह्मणो मन्दिरं साक्षाद् हृदयं सरलं मृदु ।
वाचापि तत्र नाघातं कुर्वे ब्रह्मास्मि हृद्गतम् ॥

(९३)

लीलामन्दिरमेतर्हि क्लेशभाण्डं जगत्पुरा ।
विनष्टदिग्भ्रमस्येव ज्ञानं ब्रह्मास्मि निर्भ्रमम् ॥

(९४)

सेवितं गुरुवैद्यस्य किञ्चापूर्वं रसायनम् ।
नखशिखमरोगोस्मि स्वस्थं ब्रह्मास्मि नीरुजम् ॥

(९५)

गलिताः सकलाः शङ्काः फलिता सद्गुरोः कृपा ।
मिलिताः परमा शान्तिः शान्तं ब्रह्मास्म्यसंशयम् ॥

(९६)

मुष्टिवद्धयमस्यापि मृत्युमुष्टिगतस्य च ।
सर्वावस्थासु निर्विघ्नं स्यान्मे ब्रह्मास्मि चिन्तनम् ॥

(९७)

प्राणापाये विषादो न प्राणलाभे न हर्षणम् ।
विषादहर्षहीनं यत् समं ब्रह्मास्मि हर्षणम् ॥

(९८)

न पीडयन्ति रोगा मां न चाकर्षन्ति वासनाः ।
बाधन्ते नैव कर्माणि स्वस्थं ब्रह्मास्मि नीरुजम् ॥

(९९)

अपथ्यं पथ्यमाभाति घोरं सौम्यं कटु प्रियम् ।
अनुकूलं यथार्थं च सौम्यं ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥

(१००)

समाधौ ब्रह्म संसुप्तौ व्युत्थाने ब्रह्म जागरे ।
निधने ब्रह्म निर्वाणे सदा ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥

(१०१)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यो मूर्च्छामरणजीवनात् ।
नवावस्था परा प्राप्ता परं ब्रह्मास्मि नूतनम् ॥

(१०२)

श्रेयोऽनुवलनं नैव नैव प्रेयोऽनुधावनम् ।
श्रेयःप्रेयःसमाविष्टं परं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम् ॥

(१०३)

लालनं पालनं त्रासो राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव मे भाति रम्यं ब्रह्मास्मि सुन्दरम् ॥

(१०४)

न केनापि विरोधो मे संम्बन्धोपि न केनचित् ।
सर्वस्याप्यात्मभूतत्वात् सोहं ब्रह्मास्मि चाद्वयः ॥

(१०५)

वरदानं न कस्मैचित् शापदानं न कस्यचित् ।
सर्वस्याप्यात्मभूतत्वाद् वरं ब्रह्मास्मि निःस्पृहम् ॥

(१०६)

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि जीवन्मुक्तोऽस्मि सर्वथा ।
न चायं विभ्रमः किन्तु सत्यं ब्रह्मास्मि निर्भ्रमम् ॥

(१०७)

पूर्वपूण्यवशाल्लब्धः सद्गुरूणां समागमः ।
तेषां कृपालवाल्लब्धा चेयं ब्रह्मास्मि मालिका ॥

(१०८)

अवश्यं प्राप्स्यते प्राप्यम् अभ्यासदेव नान्यथा ।
अभ्यस्तव्या सदा तस्माद् इयं ब्रह्मास्मि मालिका ॥

(१०९)

ब्रह्मस्मिमालां परिधायकण्ठे प्रातश्च यः कोपिजपेद्धि सायम् ।
तद्वस्तु चित्ते प्रयतेत भर्तुं दृष्टंच तस्याशु फलं प्रभावात् ॥

इति ब्रह्मास्मिमाला ।

हरि :-ॐ तत्सत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अथ —

ब्रह्मास्मि - माला

प्रारभ्यते ।

मङ्गलं मङ्गलाचर्या तथा मङ्गलकारम् ।
मङ्गलं मङ्गलाराध्यं सर्वं ब्रह्मास्मि मङ्गलम् ॥ १ ॥

मङ्गल, मङ्गलाचरण, इन दोनोंके साधन और इन सबसे आराधन करने योग्य जो मङ्गलायतन भगवान्, ये सब-के-सब ब्रह्म हैं और वह मङ्गलमय ब्रह्म मैं हूं।

जब सब मङ्गल हैं, कुछ भी अमङ्गल नहीं है, तब आचरण भी मङ्गल ही होगा, अमङ्गलाचरण होगा ही नहीं। हाँ, मङ्गलाचरण-सदाचरण अवश्य होता रहेगा। अमङ्गलाचरणका न होना भी तो मङ्गलाचरण ही है। जिसकी वृत्ति मंगलमय है, उससे अमङ्गलाचरणकी आशा कौन रखेगा; सभी मङ्गलाचरणकी ही आशा रखेंगे। मङ्गलायतन प्रभुमें प्रवेश ही मङ्गलाचरणका प्रयोजन है। प्रवेश हो जाने पर आचरण उपरत हो जाता है-प्रवेशमें पर्यवसान पाता है। जब आचरण न रहा; तो उसका कर्ता भी न रहा। आचरणरूप क्रियाके अभावमें कर्ता किसका होगा? कर्ता, कर्म, क्रिया, साधना सब मङ्गलायतनमें समा गये,

परिणत या पर्यवसित हो गये। आयतनका अर्थ है अखाड़ा। भगवान मङ्गल अखाड़ा हैं यह अच्छी तरह समझमें आ जाय, इसी लिये उन्हें मङ्गलायतन मङ्गलका आयतन कहा गया है। वास्तवमें 'मङ्गल' और 'आयतन', अलग अ नहीं हैं। 'मङ्गल' ही 'आयतन' है, 'आयतन' ही 'मङ्गल' है, 'मङ्गल' 'आयतन' ही 'भगवान' है और 'भगवान' ही 'मङ्गल' एवं 'आयतन' है; एक ही स्वरूप है। जीवका स्वरूप भी वास्तवमें मङ्गलायतन है; यह दूसरी है कि इसने उसे भुला दिया है। जीवने अपने मङ्गलमय अप्राकृत स्वरू बिसार रखा हैं और अमङ्गल प्राकृतको पकड़ लिया है; अतएव यह अपने आ भोगायतन भोगोंका अड्डा या अखाड़ा मान बैठा है। तथापि जो पकड़ा गया वह छोड़ा भी जा सकता है। जीव अपने इस अमङ्गल स्वरूप को छोड़ मङ्गलमय प्रभुको पकड़ सकता है, प्राकृतसे निकलकर अप्राकृत में पहुँच स है। भगवानका स्वरूप, जीवके स्वरूपकी तरह प्राकृत नहीं, अप्राकृत है—स्वयं है। इसमें प्राकृतकी भांती हेय—उपादेयभाव, छोड़ना-पकड़ना नहीं बन मङ्गल भी भगवानके स्वरूपसे पृथक् होकर, आयतनरूप भनवानमें रहनेवा भगवानका गुण हो ऐसा नहीं है, किन्तु स्वरूप ही है; सम्पूर्णतया आत्मा ही इस कारण भगवान इसे छोड़ नहीं सकते। जीव मङ्गलाचरण द्वारा अपने अम स्वरूपको छोड़ सकता है, मङ्गलमय बन सकता है। ज्यों—ज्यों जीव अम भावको छोड़ता रहेगा, त्यों त्यों मङ्गलमय बनता चला जायगा, बनते बनते इ मङ्गलमय बन लेगा कि जितना स्वयं भगवान्। मङ्गलाचरण, कर्ता, करण सब कुछ मङ्गलमय है। मङ्गलायतन भगवान् भी मङ्गलरूप ही है। जीव अमङ्गल भावको सम्पूर्णतः छोड़ लेने पर मङ्गल ही है, क्योंकि अमङ्गलक होना ही मङ्गल है। अत्र जीवको मङ्गलमय भगवान् के साथ एक होने में

विलम्ब है ? कौन-सा प्रतिबन्ध है ? अरे, यह तो अपनेको अमङ्गमय मानते समय भी मङ्गलमय ही था। अब इसने अपने माने हुए अमङ्गल-जीव भावको हटाकर अनादिसिद्ध मङ्गलभाव-शिवभावको संभालामात्र है। अन्तिम और अनोखी बात तो यह है कि भगवान्‌के अन्दर यह आयतन-आयतनीभावसे लेकर सभी भाव जीवकी दृष्टिमें ही होते हैं, भगवानकी दृष्टिमें नहीं। भगवान् तो निजस्वरूपमें सदा एकरस रहते हैं। जीव भी अमङ्गलको फेंककर मङ्गलमें मग्न हो गया, प्राकृतसे मुख मोड़ कर अप्राकृत ब्रह्ममें एकरस हो गया है। जब जीवभाव ही न रह पाया, तो जीवदृष्टि कहाँ रहने पायगी ? और जब जीवदृष्टि न रही, तो कौन कह सकेगा कि भगवान् मङ्गलके आयतन आदि हैं ? मङ्गलका आचरण, कर्ता, साधन, साध्य-आयतन आदि सब कहाँ रहे ? कहीं नहीं, कभी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं रहे। निजस्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न रह गया सब ब्रह्म बन गया। 'मैं' तो ब्रह्म हूं ही, पर 'तू' और 'यह-वह' भी ब्रह्म हो गये। इस प्रकारका अनुभव मुझे तब होने लगता है, जब मैं अमङ्गलसे निकलके मङ्गलमें गमन करनेके लिये 'ब्रह्मास्मि' की भावना करने लगता हूँ। और भी कोई करेगा, तो उसे भी करते करते ऐसी प्रतीति अवश्य होने लगेगी ॥१॥

नमस्कारो नमस्कर्ता नमस्कार्यो नमस्कृतिः।
नमस्करणसाध्यं यत् सर्वं ब्रह्मास्मि नम्रतः ॥ २ ॥

नमस्कार, नमस्कार करनेवाला, जिसको नमस्कार करना है वह देव विशेष, नमस्कारका साधन और नमस्कार से सिद्ध होनेवाला साध्य। ये सब ब्रह्म हैं और नम्र हुआ मैं भी ब्रह्म हूं।

नमस्कारका अर्थ है नम्र होना। जिसको नमस्कार करना है, उसको बड़ा

और अपनेको छोटा समझे सिवाय नम्र नहीं हुआ जाता। यहां तो इष्ट देवको नमस्का करना है; अतः इष्टको महतो महीयात् और अपने आपको अणोरणीयान् अनुभ करना होगा। नम्र होनेका अभ्यास करते करते इतना नम्र हो लेना कि इष्ट उदरतामें अपनी क्षुद्रता समा जाय, इष्टकी विशालताके सामने अपनी अल्पता ख्याल भी न रह सके, इष्टकी परमसत्तासे अलग अपनी तुच्छ सत्ताका अस्ति ही न रहने पाय। इष्टदेव सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान हैं, अकारणही कृपा करनेवा हैं और मैं कितना अज्ञ, कितना शक्तिहीन एवं हृदयहीन हूं-इस तरहके भाव मनमें बारबार भरते रहनाही नम्र होनेका अभ्यास है। अन्तमें मन यह मह करने लगे कि मैं सबतरह इष्ट के कदमोंपै कुर्बान हो चुका हूं। मेरा अकिञ्चन इष्टके सर्वस्वमें विलीन हो चुका है। इस प्रकार मन जब नम्रताके भावमें दबकर इष्टम हो जायगा; तब कहीं मानसिक नमस्कार परिपक्व होगा। नमस्कार तीन तरहका हो है-मानसिक, वाचिक और कायिक। मानसिक नमस्कार ही वाचिक और कायिक न स्कार को उत्पन्न करता है। इस मानसिक नमस्काररूप वीजमें से वाचिक नमस्कार अङ्कुर फूटता है। मनसे इष्टमय होनेके अनन्तर वाणीसे इष्टमय होनेकी प्र होती है। मनने इष्टको जैसा माना था, वैसा वाणीसे वर्णन होने लगता है जो बातें हृदयमें होती हैं, वेही होठों पै आजाया करती हैं। वाणी मनके म हुए इष्टका गुणानुवाद करती है, स्तुति प्रार्थना आदि करती है और पवित्र नम्र होती रहती है। खूब नम्र हो जाती है, तो भावावेश होता है। नम्रता आवेशमें बकवाद करने लगती है कि "मै इष्टके गुणसागरमें से एक बुन् हजारवें हिस्सेका भी वर्णन नहीं कर सकती; तों फिर मैं भी कुछ हूं-ऐ मीथ्याभिमान क्यों करूं, अरे, कृपालु इष्टकीं दी हुई सत्ता स्फुर्तिके विना बोल भी नहीं सकती, कुछ कर ही नहीं पाती, तो मै क्या हो सकती हुं?

कोई कुछ हो सकता है, तो वे इष्ट ही हो सकते हैं, जो सब कुछ हैं। मैं तो हूं ही नहीं, अगर हूं तो उन्हीकी हूं। वास्तवमें वे-ही-वे हैं।" इस प्रकार बकबक करती हुई थक जाती है, हैरान होकर स्तम्भित हो जाती है। शक्तिहीन वाणी इष्टकी सर्वशक्तिमत्तामें समा जाती है और इष्ट ही इष्ट अवशिष्ट रह जाता है। इष्टकी अनन्तामें वाणीका अन्त आ जाना ही वाचिक नमस्कार-रूप अङ्कुरसे कायिक नमस्काररूप वृक्ष प्रस्तुत होता है।

शरीरने देखा कि वाणी विलीन हो गई है तो वह सबर कैसे कर सकता था, झट झुक गया, इष्टके चरणोंमें ढुलक पड़ा और दो पैर, दो घुटने, दो हाथ, हृदय तथा मस्तक, इन आठों अङ्गोको ज़मीनमें लगा कर दण्डकी तरह दीर्घ प्रणिपात कर गया। वह कुछ काल तक यों ही चरणोंमें पड़ा रहा, बाद चरणामृतसे तृप्त हो जाने पर होश हुआ कि "महतो महीयान् इष्टके सामने मैं अणोरणीयान् भी नहीं हूं। मेरी स्थूल दृष्टि में तो महतो महीयसी हमारी यह पृथिवी ही है और अणोरणीयः परमाणु है। यदि इष्ट पृथिवी है, तो मैं परमअणु हो सकता हूं। परमाणु तो किसीको अडचन नहीं करता, आघात नहीं पहुंचाता, संघर्ष खड़ा करनेवाला नहीं होता। क्या मैं भी ऐसा हो सकता हूं। हाँ, इष्टके आशीर्वादसे हो जाऊंगा। परन्तु विराट् नारायणकी तो एक एक रोममें असंख्यात कोटी ब्रह्माण्ड भी परमाणुकी तरह घूमते हैं, उनमेंसे एक ब्रह्माण्डमें हमारी इस पृथिवीकी क्या गिनती है और पृथिवी पर मुझ पिण्डकी क्या औकात है? कुछ भी नहीं। फिर विराट नारायणके सन्मुख मैं नाचीज अपने अस्तित्वसे ही इन्कार क्यों न कर लूं; ताकि विराट ही एक इष्ट रह जाय।" यों देहाभिमान छुट जाने पर कायिक नमस्काररूप वृक्ष पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो जाता है।

जो कोई भाग्यशाली मानसिक; वाचिक, कायिक त्रिविध नम्रताको अपना सका है, उसके लक्ष्यसे नमस्कार, कर्ता, साधन, साध्य आदि सब कुछ ब्रह्म ही हैं और उसी लक्ष्यसे वह अपनी आवाज बुलन्द कर सकता है कि 'मैं भी ब्रह्म ही हूं'। वह पवित्रात्मा साधन, साध्य तथा अपने आपको भेद रहित ब्रह्म अनुभव करता हुआ भी ब्रह्म ही ब्रह्मको नमस्कार करता है या मैं ही मुझको नमस्कार करता हूँ इस अनन्य भावसे नमस्कार करता ही रहता है ॥२॥

अहं ब्रह्म मम ब्रह्म महद्ब्रह्मामहत्तथा ।
इदं ब्रह्मानिदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥ ३ ॥

ब्रह्म मेरा है। अरे, मैं ही ब्रह्म हूं। महत्-जो कुछ स्थूल है, वह ब्रह्म है और अमहत्-जो कुछ सूक्ष्म है, वह भी ब्रह्म है। इदम्-यह वर्तमान में प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कार्यरूप जगत् ब्रह्म है और अनिदम्-कारणरूप से विद्यमान परोक्ष भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म है और मैं भी सब तरह ब्रह्म हूं।

ये शुष्कज्ञानके तडाके नहीं हैं, कोरी वाग्जाल या वितण्डा भी नहीं हैं। प्रत्युत आत्मसन्तुष्टि या आत्मतृप्तिकी अनुभूति भरी अभिव्यक्तियां हैं। हाँ, 'मम-ब्रह्म' में ममता और 'अहंब्रह्म' में अहन्ता अवश्य है और ममता एवं अहन्ता खतरेसे खाली नहीं। परन्तु ममता और अहन्ता स्वरूपसे खतरनाक नहीं होती, विषयोंके खतरनाक होनेसे ये भी खतरनाक हो जाती हैं। ममता एवं अहन्ताके विषय शुद्ध होते हैं, तो वे भी शुद्ध होती हैं और विषयोंके अशुद्ध होनेपर वे भी अशुद्ध हो जाती हैं। जहां अशुद्ध ममता, अहन्ता खतरनाक होती हैं, वहां

शुद्ध ममता, अहन्ता श्रद्धा, आदर एवं प्रेमकी चीज भी होती हैं। जड देहादि विषयक राजस तामस ममता, अहन्ता हानिकारक होती हैं, शुद्ध चेतन परब्रह्म विषयक सात्त्विक ममता, अहन्ता अलभ्य लाभकारक होती है। ये दोनों एक-दूसरीको न छोड़कर सदा साथ रहनेवाली सहेलियां हैं। जहां ममता होती है—अर्थात् जहां 'यह मेरा है' ऐसा विचार होता है वहां अहन्ता भी अवश्य होती है—अर्थात् वहां 'म हूं' ऐसा भान भी अवश्य रहता है। जब ममता देहादिक जड विषयोंको छोडकर चेतन ब्रह्मनिषयक हो जाती है कि 'ब्रह्म मेरा है', तब अहन्ता भी जड जगत से हटकर चेतनमें प्रवेश कर जाती है कि 'अहंब्रह्म'। ममताका विषय जब चेतन परमात्मा होता है, तो वह भक्ति है और अहन्ताका विषन जब चेतग ब्रह्म होता है; तो वह ज्ञान है। वास्तवमें दोनों एक हैं; एकमेवाद्वितीय चेतन ब्रह्ममें ही दोनोंका पर्यवसान हैं। वास्तविक रीतिसे तो भक्तमें ममता या अहन्ता रहती ही नहीं है। जब भक्तकी जड जगत्में आसक्ति नहीं रहने पायी है, तब ममता कैसे रहेगी? भक्तकी ममता तो एक भगवान् तक है। भगवान्‌ही भक्तकी एक मात्र सम्पत्ति है, भगवान ही उसका सर्वस्व है, अतः उन्हींमें उसका ममत्व है, उन्हींमें उसका स्वत्व है। ज़िसकी ममता मायासे निकलकर मायापतिमें मिल गई, उसमें अहन्ता कैसे रह सकती है? जब 'मेरापन' चला गया तब 'मैं पना' भी जाता रहा। जो अपनेको किसी कर्मका कर्ता और भोक्ता ही नहीं समझता उसमें अहङ्कार काहेका? जब ममता जाने लगी तब अहन्ता अकेली न रह सकी, उसने भी उसका पिछा पकडा और वह भी उसके साथ ही प्रभुमें जा मिली! भक्तने ममता एवं अहन्ता, दोनोंको प्रभुके अर्पण कर दिया, प्रभुपर न्योछावर कर दिया और वह प्रभुमय हो गया। बस, प्रभु-ही प्रभु रह गये-इस अभेद्य एकताका नाम है भक्ति! जैसे गङ्गाजी आदि नदियोंकी

धारायें अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती हैं, गिरकर समुद्रमय बन जाती हैं, वैसे भक्तोंके चित्तकी ममता, अहन्ता आदि समस्त वृत्तियां अविछिन्न रूपसे भगवान् को विषय करने लग जाँय, विषय करते-करते उन्हीं में घुल-मिलकर भगवन्मय बन जाँय-यही भक्तिकी पराकाष्ठा है। क्या जड़, क्या चेतन, सभी भूतोंमें सभी नाम-रूपोंमें जिस आत्मभावनाके द्वारा एक उपास्यदेव दिखायी दे, एक हृदय-मन्दिर के आराध्य देवताके अतिरिक्त अन्य की कल्पना तक चित्तमें न उठे, यही अनन्य भक्ति है। भक्तोंके भक्ति-नेत्रोंके सामने भगवान् के अतिरिक्त द्वैतका शेष होता ही नहीं। उनकी ममता, अहन्ता जहां-जहां जाती हैं, वहां सर्वत्र वही तो है अथवा ममता, अहन्ता जिस-जिसको विषय करती है, वह सब वही है "सर्वं विष्णुमयं जगत्" कण-कणमें और घट-घटमें प्यारा कृष्ण ही तो समाया हुआ है; अणु-अणुमें और रोम-रोममें दुलारा राम ही रम रहा है, यह है भक्तिकी अन्तिम अवस्था। भक्तिप्रधानग्रन्थ श्रीमद्भागवत भी इसीका अनुमोदन करता हुआ उत्तम भक्तोंके लक्षण बतलानेके बहाने कहता है--

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्म-न्येष भागवतोत्तमः॥

अर्थात्--"जो सब भूतों में यह भाव रखता है कि मैं और भगवान् दोनों एक हैं। अतः सब भूत भगवान् में और मुझमें भी हैं, वही समस्त भागवतों (भगवद्भक्तों) में उत्तम हैं।" भक्तोंका लक्षण भक्ति ही हो सकती है और वही (साध्यरूपा परा भक्ति ही) भक्तशिरोमणियों के लक्षणरूप से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने भागवतोत्तम (परमभक्त) उद्धवके प्रति वर्णन की है। ऐसी परमा भक्ति द्वैतके गन्धको भी नहीं सह सकती। ज्ञान तो अद्वैत स्वरूप

है ही । ज्ञानी की अहन्ता यह अनुभव करने लगे कि "भाव-अभावरूप समस्त जगत् अविद्याके कारण ही मुझ आत्मस्वरूपमें प्रतीत हो रहा है, वास्तवमें इसकी कोई सत्ता नहीं है, केवल मैं-ही-मैं हूं ब्रया ह्म-ही-ब्रह्म है-जब ब्रह्मके सिवाय कुछ है ही नहीं और मैं भी ब्रह्म हूं; तो जो कुछ मेरा है, वह भी सब ब्रह्म ही है ।" इस प्रकार ज्ञानिजनकी अहन्ता, ममता भी एकमात्र ब्रह्म विषयक हो जाती है, तो द्वैतको स्थान कहाँ ? यों ज्ञान और भक्ति, दोनोंकी पराकाष्ठा एक अद्वैत है, इस लिये दोनों एक हैं और इसी लिये शास्त्र एवं सन्त कहते हैं कि ज्ञानकी पूर्णावस्था भक्ति है और भक्तिकी पूर्णावस्था ज्ञान है । जहाँ कहीं ज्ञानसे भक्तिको श्रेष्ठ कहा है; वहां ज्ञानका अर्थ परोक्ष ज्ञान समझना चाहिये, अपरोक्ष साक्षात्काररूप दृढ ज्ञान नहीं तथा भक्तिका अर्थ साध्यरूपा परा भक्ति समझना चाहिये, साधनरूपा अपरा भक्ति नहीं और जहां भक्तिसे ज्ञानको श्रेष्ठ बताया गया है; वहां भी भक्ति करके साधनरूपा अपरा भक्ति लेना चाहिये, साध्यरूपा परा भक्ति नहीं तथा ज्ञानकरके अपरोक्ष साक्षात्काररूप दृढ़ या परम ज्ञान लेना चाहिये, परोक्ष ज्ञान नहीं । अपरोक्षसाक्षात्काररूप परम ज्ञान और साध्यरूपा परमा भक्ति तो एक ही वस्तु है, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं । नामभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है, एकही वस्तुके दो नाम हैं, एकही सिक्केके दो पहलू हैं । रुचिभेदके कारण नामभेद हो गया है । कोई किसी नामको पसन्द करता है, कोई किसी नामको । भक्तिमें रूचिवाला भक्तिके नाम से अद्वैतको स्वीकारता है और ज्ञानमें रुचिवाला ज्ञानके नामसें । अद्वैत का मोह किसीसे छूटता नहीं । अहन्ता, ममता को लेकर किये जानेवाले आचार्यसेवन या आत्मनिवेदन आदिक कर्म ज्ञान या भक्तिमें उपकारक हो कर परमात्माप्राप्तिके सहायक होते हैं, इस लिये ज्ञान या भक्तिमें कर्मका अन्तर्भाव है । तात्पर्य कि स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारण,

प्रत्यक्ष-परोक्ष समस्त प्रपंच से विमुख हो कर अहन्ता, ममता जब आत्माभिमुख हो लेती है, व्यापक चेतन विषयक बन जाती है, सृष्टिसे भी अत्यन्त व्यापक हो जाती हैं, तो "सकलमिदमहं च वासुदेवः" का अनुभव आप ही उदित हो आता है और "सर्वं ब्रह्मासि सर्वतः" के उद्गार अनायास ही उठने लगते हैं ॥३॥

कोहं कस्त्वं किमेतच्च न जानेहं कथञ्चन ।
अवश्यमेवं जाने तु सर्वं ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥ ४ ॥

मैं कोन हूं, तू कोन है, यह क्या है और वह क्या है, यह कुछ भी मैं किसी प्रकार भी नहीं जानता। हाँ इतना अवश्य जानता हूं कि सब कुछ ब्रह्म है और मैं भी सब तरह ब्रह्म हूं।

यद्यपि मैं ठेठ इतना अनजान नहीं हूं कि अपनेको भी न जान सकूं ? तथापि वास्तवमें मैं मुझको जानता ही नहीं; क्यों कि मैं जिसको 'मैं' जानता या कहता हूं, वह मैं हूं ही नहीं। मेरी 'मैं' इस साडे तीन हाथके पुतलेमें ही सीमित रह जाती है, इससे आगे बढ ही नहीं पाती। कदाचित बहुतबहुत जोर मारूं, अभिमानकी फूंकसे फूलकर कुप्पा हों जाऊं; तो भी इस 'मैं' को इस सीमासे थोडी-सी ही बाहर कर सकता हूं। मेरी 'मैं' कितनी संकुचित है, दावा तो सात्त्विक होनेका करती है; किन्तु वर्तनमें राजसभाव को ही वर लेनेकी बुद्धिमानी करती रहती है। यहां तक कि मैं नहा धोकर देवदर्शन को जाता हूं; तो वहां भी कपडे-लत्तों से लदे विना जाना पसन्द नहीं करता। दर्शनों में भीड़ तो हुआ ही करती है। ऐसी दशामें मेरे कपडेका पल्ला किसी दूसरे दर्शकके

पल्लेसे छू जाय, यह स्वाभाविक है। जब कभी अकस्मात् ऐसा हो जाता है; तो मैं झट जबान खोल लेता हूं कि यह गवांर मुझे छू गया, अब मुझे स्नान करना पडेगा। छुआ तो कपड़ा है और मैं कहता हूं कि मैं छू गया या गवांरने छू दिया। यह है, फूंकसे भरी हुई 'मैं' का फैलाव। 'मैं' साढेतीन हाथकी सीमाका उल्लंघन करके कपड़ों तक पहुँच गई। परन्तु फूंक कब तक रह सकती थी? झट पंचर करके निकल गई और मेरी 'मैं' भी उसीके साथ फौरन कपडो में से निकलकर वापस शरीर में आ गई, जिसको की मैंने स्नान कराना है। इस प्रकार मेरी मैं अधिक-से-अधिक विशाल होती है, तो बडी मुश्किल से कहीं शरीरपर धारण किये हुऐ कपडों तक पहुंच पाती है। परन्तु कपडे तो मेरे हैं और जो मेरा होता है; वह 'मैं' नहीं हो सकता; जैसे गृह मेरा है, तो गृह 'मैं' नहीं हूं। 'मैं' तो उसमें रहनेवाला उसका मालिक हूं। ऐसे ही शरीर, इन्द्रियां, प्राण, अन्तःकरण और जीव तक मेरा है; सो इनमें से कोई भी 'मैं' नहीं; प्रत्युत् 'मैं' तो उन सबका अन्तरतम सबका मालिक धारण पोषण करनेवाला हूं। जैसे इनमें से किसीको भी मैं अपनी 'मैं' अपना स्वरूप नहीं जानता, वैसे मैं 'तू' एवं 'यह-वह' को भी नहीं जानता। यथार्थमें 'मैं', 'तू' और 'यह-वह' इन सबका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। बस, इतना जान लूं और अवश्यमेव जान सकूं कि 'मैं', 'तू' और 'यह-वह', ये सब वास्तवमें ब्रह्म है; तो फिर मेरे ब्रह्म होने में कोई सन्देह नहीं है, मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ॥४॥

राहोर्ग्रासाद्विनिर्मुक्तो यथा चन्द्रो विनिर्मलः ।
मनो मे निर्मलं तद्वज् ज्ञातं ब्रह्मास्मि निर्मलम् ॥ ५ ॥

ग्रहण के बाद राहुके ग्राससे छुटा हुआ चन्द्र जैसे विशेष निर्मल होता है; वैसे ज्ञान हो जानेके बाद अज्ञान के ग्राससे छुटा हुआ मेरा चित्त भी अधिक

निर्मल हो गया है। इस निर्मल चित्तसे जाना जाता है कि वह निर्मल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म मैं हूं।

'चित्तमेव हि संसारः' चित्त ही तो संसार है। नानाप्रकार की चिन्तायें चित्तमें ही थाना जमाये पडी है, कभी घडी-दो-घडी व्यवहार को भुलाने के लिये परमार्थ में पग धरने जांय; तो वहां भी पीछा पकडे रहती हैं। सुख-दुःख के कारणभूत राग-द्वेष और जन्म-मरणरूप बन्धनकी जड़ चित्तही है। ईश्वरकी सृष्टिमें भली-बुरी कल्पना करनेवाला केवल चित्त है। ऐसी कल्पनाको लेकर हमारी समस्त वासनायें होती है। हम अपने आपको ऊंच-नीच, सुखी-दुःखी आदि मानते रहते हैं, स्थूल-सूक्ष्म शरीर के साथ बँध जाते हैं, इनकी उत्पत्ति होने पर अपनी उत्पत्ति मान लेते हैं और इनका नाश होने पर अपना नाश मानते रहते हैं। अनादिकाल से जन्म-मरण के गाले (फेरे) में चक्कर काटते रहते है और तब तक बराबर काटते रहेंगे; जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता, मनकी मलीनता नहीं मिटती। मलीन मन बन्धन का कारण है, तो निर्मल हुआ वही मोक्षका साधन भी है। जैसे भोजन करते समय भूख मिटती रहती है, सन्तोष या तृप्ति बढती जाती है, शरीरमें शक्ति-संचार होता रहता है और ग्रास ग्रास में ये सभी बातें होती रहती हैं। वैसे कर्म-उपासना या श्रवण-मनन आदि करते समय भी मनकी मलीनता मिटती रहती है, राग-द्वेषकी शिथिलता बढ़ती जाती है, मनोबल का संचार होता जाता है, सुख-शान्तिका अनुभव होता रहता है, एक-एक वृत्तिमें ये सारी बातें होती रहती हैं और वृत्तिके तन्मय होनेपर इनसे भी मुक्ति मिल जाती है। धीरे धीरे मलीनता सर्वथा मिट जाती है, तो मन सब तरह निर्मल हो लेता है। मलीनता रहित मनमें निर्मलतारूप ज्ञान-प्रकाश का आविर्भाव हो जाता है। ज्ञान-प्रकाश के फैल जाने पर अज्ञान-राहु के लिये

अवकाश ही नहीं रह जाता और जन्ममरण का चक्र सदाके लिये बन्ध हो जाता है। जिसने मनको निर्मल करनेका पुरुषार्थ कर लिया हैं, उसके चित्तमें स्फुरण होती है कि निर्मल–प्रकाश स्वरूप ब्रह्म मैं हूं। चन्द्रमाको तो कालान्तरमें फिर राहु ग्रास कर सकता है; परन्तु राहुकी तरह अज्ञान की निवृत्ति अमुककाल के लिये नहीं होती, हमेशाके लिबे हो जाती है सो पुनः अज्ञान का आना असम्भव है। अज्ञान का आत्यन्तिक अभाव हो जाना–सदाके लिये निवृत्त हो जाना ही मुक्ति हैं। ब्रह्म तो सदा मुक्त हैं, निर्मल–प्रकाशस्वरूप है और निर्मल मनमें उत्पन्न हुऐ नित्यप्रात ब्रह्मके निर्मल ज्ञानसे मैं भी ब्रह्म हूं, निर्मल ज्ञान-स्वरूप हूं ॥५॥

विविच्य भूतिपूर्णं तद्विचार्यं चितिपूर्णकम् ।
विलोक्यानन्दपूर्णं तज्जातो ब्रह्मास्मि तन्मयः ॥६॥

सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माके भूतिपूर्ण–पूर्णऐश्वर्य या पूर्णसत्ता स्वरूप का विवेचन करके पूर्ण चिन्मय स्वरूप का विचार करके और आनन्दपूर्ण उस अलौकिक स्वरूपका अबलोकन करके मैं उसमें तन्मय हो गया, इतना तन्मय कि मैं ही साक्षात् ब्रह्म बन रहा हूं।

परब्रह्म परमात्माका ऐश्वर्य, सत्ता, ज्ञान और आनन्द सबकुछ अलौकिक है। लोकदृष्टि मर्यादित है, यह अपने आस–पासके स्थूल जगत् को भी पूरा नहीं परख पाती, नहीं समझ सकती, तो फिर इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति एवं लयके कर्ता अधिष्ठानभूत परमात्मा तक कैसे पहुँच पायेगी। जिनके जीवनका उद्देश्य भौतिक उन्नति ही है, जो शारीरिक सुखभोग को ही सब कुछ समझते है,

जगतके भोगमेंही आसक्त हैं, इनसे विरक्त होकर जिन्होंने कभी अध्यात्म सुख शान्ति के मूलमन्त्रब्रह्मज्ञानकी तहमें पैठनेकी तकलीफ ही नहीं कि है; उन्हें परब्रह्मके ऐश्वर्य, सत्ता, ज्ञान या आनन्दका पता भी नहीं होता, अनुभव या भोग की बात तो अलग रही। जो लोग परब्रह्म परमात्मा के अस्तित्वका ही स्वीकार नहीं करते, वे यदि इस आनन्दानुभवसे वञ्चित रहे तो कोई आश्चर्यकी वात नहीं। जो लोग पारसमणि के अस्तित्व का अङ्गीकार नहीं करते, वे उससे लाभ न उठा सकें–यह स्वाभाविक है। लेकिन आश्चर्य तो तब होता है जब पारस को सामने पड़ा देखकर, जान कर भी एक दरिद्र उसकी उपेक्षा करता है और दीनताके दुःखसे हाय-हाय मचाये रहता है। हममें से अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो परमात्मा के अस्तित्व का स्वीकार तो करते हैं पर उनके ज्ञानको एक निकम्मी चीज समझते हैं। ऐसे लोग कहा करते हैं कि यह आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या तो निठल्ले साधुसंन्यासियो के चोंचले है। वह सुनकर आश्चर्य तो नहीं होता, किन्तु दया अवश्य आती है। ब्रह्मज्ञान किसीकी वपौती सम्पत्ति नहीं है, यह तो सार्वजनिक चीज है। सो जो चाहे सो ब्रह्मस्वरूप का विचार करके इसे अपनी बना सकता है और दीनता के दुःख की हाय हाय से मुक्त हुआ पूर्णानन्द में निमग्न हो सकता है। ब्रह्मस्वरूप का विचार चाहे जिस दृष्टिसे भी किया जाय, ब्रह्मपूर्ण ही सिद्ध होंगे, क्योंकि वास्तव में वे ही पूर्ण है। जगत् में जितनी भी चीजें हैं; उन सबकी एक सीमा निर्धारित है। जिसका अंश–हिस्सा हो सकता हैं, उसकी सीमा का पता भी लगाया जा सकता है। उदारणार्थ एक सूतका धागा है। यह धागा कपड़े के किसी टुकडे का हजारवां हिस्सा है। अब वह कपड़े का टुकड़ा कितना बड़ा है-यह जानना हो तो इस धागे को हजारगुणा करके जाना जा सकता है। वह टुकड़ा कपडे के एक थानका हजारवाँ हिस्सा

है तो उसे हजारगुणा करके उस थान का माप भी निकाला जा सकता है। यह है थानकी सीमा का निर्धारण और इसी हिसाब से दुनियां की सारी चीजों की सीमा का निर्धारण हो सकता है। पर जो आकाश की तरह अनन्त है, अखण्ड है, जिसका कोई अंश या हिस्सा हो ही नहीं सकता; यदि समझाने के लिये कथञ्चित हो सकता है तो केवल कल्पित; उसकी सीमा का निर्धारण देवदृष्टि भी नहीं कर सकती, फिर मानव बुद्धि की तो बात ही क्या हो सकती है? जो असीम है, वही पूर्ण है। जिसका ऐश्वर्य पूर्ण है, जिसकी कृपा पूर्ण है, जिसकी सत्ता पूर्ण है, जिसका ज्ञान पूर्ण है और जिसका आनन्द पूर्ण है, वही सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा है। विश्व और उसके समस्त पदार्थ, ज्ञान, सत्ता, आनन्द, ऐश्वर्य का माप है और परब्रह्म के ज्ञान, सत्ता या आनन्द का माप नहीं है; अतः वे अमाप हैं, अपरिच्छिन्न हैं, पूर्ण हैं। देव, दानव, मानव आदि ब्रह्माण्डभर के जीवों के ज्ञान, सत्ता, आनन्द को एकत्रित किया जाय, तो एक समुद्र बन जायगा। वह समुद्र अपने अधिष्ठानभूत सच्चिदानन्द महासागर के सामने एक बिन्दु के बराबर भी नहीं होगा। यों परब्रह्म स्वरूप का विवेचन करते करते जब मैंने 'सूत्रे मणिगणाः की तरह उस परमसत्ता को सब में प्रोत पाया, तो मैं उसीमें गुँथ गया, उलझ पड़ा। पड़े-पड़े मैं प्राणिमात्र को चेतन प्रदान करने वाले महाचेतन के प्रकाशस्वरूप का विचार करने लगा और मेरी वृत्ति जब प्रभु के प्यारे प्यारे उस चित्स्वरूप तक पहुँची, तो वह वहीं लुट गई। दर्पण जब सूर्य के सामने हो जाता है, उसमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, सूर्य के प्रतिबिम्ब से मुखादिकों के प्रतिबिम्ब का तिरोधान होता है और सूर्य के तेज से व्याप्त हुआ दर्पण भी दिखायी नहीं पड़ता। वैसे वृत्ति जब चेतन के सन्मुख होती है, चेतनाकार होती है, तो उसमें भी चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, चेतन

के प्रतिबिम्ब से द्वैत जगत् के प्रतिबिम्ब का तिरोधान होता हैं और चेतन के चित्स्वरूप तेजसे व्याप्त वृत्ति भी नहीं दीखती। इस प्रकार द्वैत सहित वृत्ति की प्रतीति न होने से उसका चिन्मात्र हो जाना ही वृत्ति का छुट जाना है। अब मैने सर्वदुःखातीत पूर्णसुखस्वरूप, रसमय, परमात्मा के आनन्दस्वरूप का अवलोकन कर लिया। अनुभव कर लिया, आलिङ्गन कर लिया। इस दिव्य आलिङ्गन में ऐसा तन्मय होता हूं कि आलिङ्गन करता ही रह जाऊं। इस अद्भुत आलिङ्गन से मुक्त होने की मरजी ही नहीं होती, लोक-परलोक से मुक्त होनेकी परवाह भी नहीं रहती। इस अभिन्न आलिङ्गन की तन्मयता में मैं अपने को भी ब्रह्माभिन्न ब्रह्म-ही-ब्रह्म जानता हूं। आनन्दमहासागर में अभिन्न हुआ भी बाधितानुवृत्ति से आनन्दामृत का पान करता रहता हूँ ॥६॥

विद्याऽविद्या विरोधेपि स्वरूपं न निवर्त्यते।
तत्त्वमेव तया तस्यास्तद्धि ब्रह्मास्मि संस्थितम् ॥७॥

विद्या-ज्ञान का कार्यसहित अविद्या-अज्ञान के साथ विरोध हैं, फिर भी वह ज्ञान कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति नहीं करता; किन्तु उसके तत्त्वका-तात्त्विक या वास्तविक होने का ही निषेध करता है और अन्त में अपना भी निषेध करके जिस ब्रह्मरूप से संस्थित होता है, वह ब्रह्म मैं हूं।

यद्यपि सामान्य ज्ञान का अज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं, उलटा संबन्ध विशेष है; तथापि विशेष ज्ञानका-वृत्तिज्ञान का अज्ञान के साथ विरोध ही है प्रकाश एवं अन्धकार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। प्रत्यक्ष में तो प्रकाश का अन्धकार के साथ विरोध ही प्रतीत होता है-प्रकाश के आने पर अन्धकार अदृश्य हो जाता है; फिर भी अन्धकार दृश्य होने के लिये चक्षुरूप प्रकाश की

अपेक्षा रखता है ! चक्षुः ज्ञानेन्द्रिय है, तेज के सत्त्व गुण से बनी है और सूर्य इसका देवता है; अतः प्रकाशरुप है। यदि चक्षु न हो तो अन्धा क्य जाने कि प्रकाश गया और अन्धकार आया ? जो लोग अन्धकार को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभावमात्र मानते हैं, उनके वहां भी प्रकाश के अभावरूप अन्धकारकी सिद्धि के लिये चक्षुरूप प्रकाश की आवश्यकता होती ही है उनका एक नियम है कि जो वस्तु जिस इन्द्रिय का विषय होता है, उस वस्तु का अभाव भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है, उस वस्तु का अभाव भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है, इसे यों भी कहा जाता है कि जिस चीज़ का ज्ञान जिस इन्द्रिय से होता है, उस चीज के अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय से होता है। सूर्य के प्रकाशका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से होता है; अतः प्रकाश के अभाव का अर्थात् प्रकाश नहीं है इस बात का ज्ञान भी चक्षुः से ही होता है प्रकाश का न होना ही अन्धकार है। इसी प्रकार सामान्य ज्ञान अज्ञान के दृश्य होने में, अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य की सिद्धि में सहायक है, धारक-पोषक है। परन्तु विशेष ज्ञान-वृत्तिज्ञान ऐसा नहीं है, वह तो अज्ञान का निवर्तक होने के कारण कट्टर विरोधी है। बिजली का बटन दबाते ही, प्रकाश का उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता हैं; कहां गया, कब गया, किस मार्गसे गया, कुछ पता नहीं लगता। वैसे वृत्तिज्ञानके उदय होते ही अज्ञान भी अपने कार्य जगत्को लिये-दिये हवा हो जाता है। इस चराचर जगत्का उपादानकारण अज्ञान है। उपादानकारण की निवृत्ति हो जाने पर कार्यकी भी निवृत्ति हो जाती है; जैसे कपडेके उपादानकारण सूतकी निवृत्ति हो जाने पर कार्यरूप कपडेकी भी निवृत्ति हो जाति है। उपादानकारण अज्ञान के अदृश्य हो जाने पर कार्यरूप जगत् भी शोक-मोह सहित निवृत्त हो जाता है। ऐसा होने पर

भी कार्य के स्वरूप की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु उसके तात्त्विक भाव की
निवृत्ति हो जाती है। वृत्तिज्ञानका आग्रह कार्यकी सत्ताको हटानेमें है और उसके
स्वरुपको मिटानेमें तात्पर्य नहीं है। दृष्टान्तके लिये कोई जादुई दुनियाँ को ले
सकते हैं। किसी जादुगरने अपनी जादू-विद्याके बलसे एक लड़की और सुवर्णकी
कुछ ईंटें बनाई। सुवर्ण तो असलीको टक्कर मारे ऐसा है ही, लड़की भी रूप,
यौवन, कुल आदि सद्गुण सम्पन्न है। जादुगरकी इच्छा से लड़की तमाशा
देखनेवालोंसे कहती है कि "आप लोगोंमें से कोई भी इस सुवर्ण के सहित
मेरा पाणिग्रहण कर सकते हैं, अवस्था, जाती आदि की कोई कैद नहीं है। मैं
वरमाल लिये खड़ी हूं। जो इच्छुक या उमेदवार हो वह सामने आ जाय,
मेरे हाथ से वरमाल पहिनकर सुवर्ण सहित मुझे अपनी बनाले।" दर्शकों में
भी कुछ कामुक ऐसे हो सकते हैं, जो कि किसी तरहकी भी स्त्री मिल जाय
तो उसके साथ नाता जोड़ने में विलम्ब या विचार करने की बेवकूफी का साहस
कभी न कर सकेंगे। परन्तु यहां लड़की के उत्सुक होने पर भी सौनेकी इंटोंके
साथ लड़की को अपनाने के लिये किसीके पेट में पानी तक नहीं हिलता।
सब अपने अपने स्थान पर चूप-चाप स्थित हैं, उसे हथिया लेनेकी उत्कण्ठा
होने पर भी कोई प्रवृत्त नहीं होता। क्यों, क्या कारण है? यही न, कि वे
सब-के-सब समझे हुए हैं कि यह लड़की और सौना सच्चा नहीं है किन्तु जादु-
गरकी मिथ्या माया है। उनकी समझ, उनका ज्ञान उन्हें कहता है कि लड़की
आर सौना असत् है और उनकी आँखें कहती हैं कि लड़की सुवर्ण लिये सामने
खड़ी है। उनका ज्ञान दृढ़ है; फिर भी लड़की के अस्तित्वको हीं निवृत्त करता
है, स्वरुप को नहीं। स्वरूप से तो लड़की सामने दीख रही है। ऐसे ही
वृत्तिज्ञान अज्ञान की निवृत्ति करता है। अज्ञानके निवृत्त हो जाने पर भी अज्ञानके

जगत् के स्वरूप की निवृत्ति नहीं होती । अलबत, जगत् की सत्ताका निषेध या बाध हो जाता है, स्वरूप से तो जगत् प्रतीत होता रहता है । तमाशे और लड़की को असत् जानते हुए भी देखनेवाले उसे और तमाशे को देख-देख खुश होते रहते हैं । वैसे मायामय जगत् को मिथ्या मानते हुए भी ज्ञानीजन हर्षित ही होते रहते हैं । वृत्तिज्ञान अज्ञान और अज्ञान के कार्य जगत् के अस्तित्व को मिटाता-मिटाता अन्त में और कोई नहीं मिलता, तब अपने उपर ही अपना चमत्कारी हाथ आज़माता है, अपने अस्तित्व को भी मिटा लेता है, क्यों कि वृत्तिज्ञान में वृत्ति भाग भी तो अज्ञानका ही कार्य था । वृत्ति विलीन हो गई, ज्ञान ब्रह्मस्वरूपज्ञान में जा मिला, ब्रह्मरूप से संस्थित हो गया । वृत्ति के न रहने से विक्षेप भी न रहा । विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान बन गया । ज्ञान स्वयं तो निर्विशेष ही है, वृत्ति में ही विशेषता थी और वह ज्ञान में उपचरित होती थी । वृत्ति के निवृत्त हो जाने से उपचरित विशेषता भी चली गई । निर्विशेष ब्रह्म रह गया, वही मैं हूं । ७ ।

दावेन दह्यते दारु रज्जुना बध्यते पशुः ।
न स्वं किन्वन्तरात्मा तु सोऽहं ब्रह्मास्मि चेतनः ॥८॥

दावानल भी जलाने योग्य लकड़ी आदिको ही जला सकता है, अपने आपको नहीं जलाता; फिर अपने सत्ता-स्फुर्तिदाता अन्तरात्मा को कैसे जला सकेगा ? किसी प्रकार भी नहीं । रस्सी से बाँधने योग्य पशु आदि ही बाँधे जा सकते है । रस्सी से रस्सी नहीं बांधी जा सकती या रस्सी अपने आपको नहीं बांध सकती; तो फिर अपने सत्तादाता अधिष्ठानभूत आत्मा को कैसे बांध सकती है, किसी प्रकार भी नहीं बँध सकती । वह अन्तरात्मा चेतन है, वही ब्रह्म है और वह चेतन आत्मरूप मैं भी ब्रह्म हूं ।

यहां यह रहस्य है—रस्सी जड़ है, अपने आप किसी को बांध नहीं सकती, पशु आदि को बांधने के लिये भी किसी चेतन हाथों की अपेक्षा रखती है। जिन हाथोंकी प्रेरणासे पशुके गले पड़नेमें वह समर्थ होती है, जिनके सहारेसे ही इधरसे उधर हो सकती है, बिना प्रेरणा या सहारेके जहां—की—तहां (शीत, आतप, वर्षा में भी) जैसी की तैसी पड़ी रह जाती है। वह यदि नाराज़ होकर पशुके गलेमें बँधनके बजाय अपने प्रेरक हाथोंमें बँध जाना चाहे, तो नहीं बँध सकती; बँध जाना चाह ही नहीं सकती। जब रस्सीका बन्धन स्थूल हाथोंको भी स्पर्श नहीं कर पाता; तो सूक्ष्मातिसुक्ष्म आत्माको कैसे कर पायगा? किसी प्रकार भी नहीं। दूसरे, रस्सी चाहे कितनी भी बड़ी क्यों न हो, रहेगी परिच्छिन्न ही, छोटी—सी ही। इसके विपरीत आत्मा अपरिच्छिन्न है, बड़ेसे भी बड़ा है। इस प्रकार छोटी—सी रस्सी बड़े—से—बड़े आत्माको बांधनेके लिये किसी तरह भी पूरी न पड़ सकेगी। व्याप्य रस्सीसे व्यापक आकाशका भारा नहीं बांधा जा सकता। साकार रस्सीसे निराकार आत्माको कसा या लपेटा नहीं जा सकता। रस्सी उत्पत्तिसे प्रथम नहीं थी नाशके बाद भी नहीं रहती और जो आदि-अन्तमें, आगे-पीछे नहीं रहता, वह वर्तमानमें भी नहीं के बराबर ही है। ऐसी अकिंच रस्सीसे त्रिकालाबाध्य आत्माका बन्धन किसी कालमें भी नहीं हो सकता। एक वस्तुसे सारी वस्तुयें बांधी भी नहीं जा सकतीं तो एक रस्सी सर्व वस्तुगत आत्माको न बांध सके, इसमें आश्चर्य ही क्या है? तीसरे, सावयव रस्सी निरवयव आत्माको बांध नहीं सकती, दृश्य रस्सीका बन्धन अदृश्य या द्रष्टा आत्मा तक पहुंचनेमें कर—गुज़र नहीं हो सकता। आत्मा प्रत्यक् है, आन्तर है और रस्सी पराक् है, बाह्य है। जो पराक् है वह पराक ही है, प्रत्यक् हो नहीं सकता, पराक् रस्सी प्रत्यक् आत्माको बांध नहीं सकती। अध्यात्म

अवस्थायुक्त और सापेक्ष रस्सी अधिष्ठान, अवस्थातीत एवं निरपेक्ष आत्माको बन्धनकर्ता नहीं बन सकती। रस्सी समस्त अनात्म पदार्थोंका उपलक्षण है। कोई भी सान्त पदार्थ अनन्त आत्माको बन्धनमें नहीं डाल सकते—किसी प्रकारका कष्ट या विकार नहीं पहुंचा सकते। भौतिक पदार्थोंसे भौतिक पदार्थ ही बांधे जा सकते है, विकृत किये जा सकते हैं। भौतिक रस्सीसे भौतिक शरीर ही बांधा जा सकता है, भौतिक दांतों से भौतिक जीभको ही तकलीफ हो सकती है। यदि अपने दांतोंसे जीभ कट जाय, तो क्रोध किस पर करें? अनात्म पदार्थसे अनात्म पदार्थको कष्ट पहुंचे, तो गुस्सा होनेका कोई कारण न होना चाहिये अथवा सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा ही आत्मासे बंध जाय, तो नाराज होनेकी बात ही क्या है? वास्तवमें तो आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं; तो कौन किसको बांधे, किससे बांधे? बन्धनातीत होता हुआ भी आत्मा बन्धनमें भी मौजुद है, रस्सी में भी विद्यमान है, बांधे जानेवाले पशुमें भी है। भौतिक जगत्के भाव अभाव, सृष्टि—लय, दोनोंसे आत्मा परे है और दोनोंमें भी हैं। आत्मासे ही दोनोंकी सत्ता है। आत्माके बिना दोनों रह नहीं सकते और आत्मा दोनोंके बिना भी रहता है। इसी लिये दोनोंका अधिष्ठान है। उस अधिष्ठानभूत सबके आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रको उखलमें बांधनेके लिये यशोदा रानीने घर भरकी ही नहीं, गाँव भरकी रस्सियां एक—एक करके जोड़ ली, फिर भी जब भगवान् न बंध सके और मैयाजी थक करके लोथपोथ एवं पसीनेसे तर बतर होकर हैरान रह गई; तो करुणाकर कृष्ण स्वयं बंध गये। जो यशोदा, ऊखल और रस्सियाँ आदि सभीमें समान भावसे व्यापक थे, उन्हें यशोदा रस्सियोंसे उखलमें क्योंकर बाँध सकती थी, जब तक कि वे स्वयं न बँध जाते। यों रस्सी स्वयं किसीको बाँध ही नहीं सकती। जिस प्रकार रस्सी बांध नहीं सकती, उसी प्रकार आग भी आत्माको जला नहीं

सकती । एक अग्नि ही नहीं, सारे-के-सारे देवता भी मिल करके यदि जलाना चाहें—अपना विकार प्रभावित करना चाहें; तो शरीराभिमानी अध्यात्म जीव, इन्द्रियादिकोंके अधिष्ठाता अधिदैविक देवता एवं इन्द्रियादिकों के गोलक या आधारभूत आधिभौतिक शरीर, इस त्रिपुटी को ही जला सकते हैं-विकारी कर सकते हैं । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख दे सकते हैं । परन्तु वे हजार चाहने पर भी इस त्रिपुटिके साक्षी आत्माको नहीं जला सकते-विकारी नहीं बना सकते । आत्माको त्रिपुटीका साक्षी होना भी सापेक्ष है, स्वरुपसे तो आत्मा निरपेक्ष ही है । अध्यात्म, अधिदेव तथा अधिभूत, ये तीनों भी परस्पर सापेक्ष हैं । यदि इसमें से एक भी न रहे, तो शेष दो व्यर्थ हो जाते हैं । आधिभौतिक शरीरके बिना अधिदैविकरूपसे इन्द्रियादिकोंकी अधिष्ठातृ देवता और इनका अभिमानी अध्यात्म जीव, ये दोनों अपना काम नहीं कर सकते । आधिदैविक देवताके अभावमें अधिभौतिक शरीर और अध्यात्म जीव दोनों नहीं रह सकते । यदि अध्यात्म जीव ही न हो, तब तो आधिदैविक देवता और आधिभौतिक शरीरकी कल्पना ही नहीं हो सकती । इसी लिये ये सब सापेक्ष हैं, बाधित हैं । इन तीनोंके भाव और अग्नि आदि देवोंसे जलाये जाने पर होनेवाले अभावका देखनेवाला आत्मा इनका निरपेक्ष साक्षी हैं, अबाधित है । आत्मा विश्वरूपसे जाग्रत्-अवस्थाका, तैजसरूपसे स्वप्न-अवस्थाका और प्राज्ञरूपसे सुषुप्ति-अवस्थाका अनुभव करनेवाला होने पर भी समाधि-अवस्थामें इन तीनोंसे परे रहनेवाला तुरीय भी है, मूर्च्छादि अवस्थामें इन सबके अभावका अनुभव करनेवाला तुरीयातीत है और कैवल्यमें सर्वातीत भी वही है । इस प्रकार आत्मा अनात्म जड़ जगतसे विपरीत है-चेतन है और इस चेतन-आत्मदृष्टि से मैं ब्रह्म हूं । ८ ।

नश्यति हिममुष्णेषु वर्षासु लवणादिकम् ।
नाहं हिमं न सामुद्रं घनं ब्रह्मास्मि कालकृत् ॥ ९ ॥

गर्मियोमें बरफ़ पिघलकर नष्ट-अदृश्य हो जाता है और वर्षामें नमक आदिक । मैं न तो बरफ हूं और न नमक ही हूं, जो पिघल सकूं । मैं तो वह घन-ठोस ब्रह्म हूं, जोकि ग्रीष्म या वर्षा आदि कालको भी बनाने-बिगाड़नेवाला है ।

ग्रीष्म ऋतु बरफको पिघला दे, वर्षा ऋतु भले नमकको गला डाले, किन्तु वे खुद भी तो स्थायी नहीं है । ग्रीष्मकाल गया, वर्षाकाल आया और जो आया है, वह भी जाने ही के लिये । इस प्रकार इन दोनोंकी चलाचलीको देखनेवाला मैं तो स्थायी ही हूं, मुजे ग्रीष्म या वर्षासे क्या वास्ता । ये वर्षा और ग्रीष्म-शीत और उष्ण ही नहीं; किन्तु संसार के समस्त द्वन्द्व आते—जाते ही रहते हैं और उनके आने-जाने को देखनेवाला मैं तो रहता ही हूं कभी कहीं न आता, न जाता हूं । इनके आवागमन की घुडदौड़ मुझे प्रसन्न न कर सके, न सही; परन्तु सता तो सकती ही नहीं । जिनका मूल या आधार ही असत्य या नाशवान् है, वे मायिक पदार्थ स्वयं सत्य या अविनाशी कैसे हो सकते हैं । इनका ह्रास प्रति-दिन ही नहीं, प्रतिपल भी हो रहा है । बड़े बड़े राष्ट्र, बड़े बड़े शस्त्रास्त्र के भण्डार और राष्ट्र की रक्षाके बहाने शस्त्रास्त्रों का दुरुपयोग करके भीषण मानव संहार करनेवाले योद्धा, ये सब खुद भी तो नष्ट हो रहे है। पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी शनैः—शनैः प्रलय के मुख में बैठने का प्रयास कर रहे हैं। सबकी अन्तिम गति प्रलय ही है । प्रलय चार प्रकार का होता है—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय, और आत्यन्तिक प्रलय । नित्य प्रलय दो प्रकारका

है-एक तो नित्य निद्रा के समय जब सारी सृष्टि अज्ञान में लीन हो जाती है, कोई विशेष भान नहीं रहता उसको नित्य प्रलय कहते हैं; और दूसरा जो जगत् में निरन्तर ह्रास हो रहा है, उसका नाम नित्य प्रलय है। नैमित्तिक प्रलय भी दो प्रकारका है-एक खण्ड या आंशिक प्रलय और दूसरा अखण्ड या पूर्ण प्रलय। उन-उन लोको में रहनेवाले लोगो के कर्म या भगवदिच्छा आदि निमित्त से जब कभी एक मन्वन्तर के समाप्त हो जाने पर या मन्वन्तर के बीचमें ही सारी पृथ्वि जलमय हो जाती है औरभुवर्लोक, स्वर्लोक आदि भी विच्छिन्न हो जाते हैं; परन्तु महर्लोक आदि ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं, तब खण्ड या आंशिक प्रलय होता है और जब एक कल्प के अन्त में ब्रह्माका दिन पूरा हो जाने पर वे अपनी सृष्टि को लेकर घोंर निद्रा में सो जाते हैं, तब दूसरा पूर्ण नैमित्तिक प्रलय होता है। प्राकृतिक प्रलय उसको कहते हैं, जिसमें ब्रह्मा की आयुः (उनके हिसाब से सो वर्ष) पूरी हो जाती हैं और यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकृति में विलीन हो जाता है। आत्यन्तिक प्रलय का कोई समय नहीं है। साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी जीव श्रवण-मनन निदिध्यासनरूप अंतरंग साधन करके अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब इस संसार का आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। इस प्रकार केवल हिम और लवण ही नहीं, प्रत्युत् सारी सृष्टि अपने लयके भी साक्षी चिद्घन अधिष्ठानका बोध कराया करती है। इसी अधिष्ठान-भूत ब्रह्ममें सृष्टिके उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल एवं प्रलयकालकी कल्पना होती है। सुतरां, कालकी भी कल्पना करनेवाले मुजब्रह्मस्वरूपका काल भी कुछ बिगाड नहीं सकता, तो बिचारे ग्रीष्म वर्षा या शीतउष्ण आदि द्वन्द्व मेरा क्या बिगाड़ सकेंगे। जो ब्रह्म आत्यन्तिक प्रलयको करके भी स्वयं अवस्थित रहता है, वही मेरा मूल आधार है, मेरा स्वरूप ही है। ६।

सत्त्वं ज्ञानं सुखं स्वत्वं स्वातन्त्र्यं चेशतामतां ।
लिप्सा स्वाभाविकी तस्या मया ब्रह्मास्मि लिप्स्यते ॥ १० ॥

सत्ता, ज्ञान, सुख, शासन और स्वतन्त्रता–यह ईश्वरभाव है, जीव मात्र को इसकी स्वाभाविक लिप्सा है,. किन्तु मुझे तो " मैं ब्रह्म हूं" इसी बातकी लिप्सा हो रही है ।

ईश्वर सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्दकन्द है, सब पे शासन करने-वाला होने पर भी स्वयं अशासित है, स्वतन्त्र होनेके कारण इस पे किसीका शासन नहीं चलता–यही ईश्वरभाव है और जीव भी इसीको चाहता है । जीव भी सत्स्वरूप होना चाहता है, प्रत्येक जीव अपने अस्तित्वको कायम रखनेके लिये मथता रहता है, मरनेके बाद भी मनुष्य अपना नाम रख जानेके लिये कुछ भी उठा नहीं रखता । ज्ञानस्वरूप होना भी सभी को इष्ट है, दूसरोंसे अधिक ज्ञानी (बुद्धिमान्) होनेका दावा कौन नहीं करता ? सबको यही अभिमान रहा करता है कि दुनियाँभरकी अक्कलसे मेरी अक्कल कुछ ज्यादा जरुर है । सुखकी चाहना तो प्रसिद्ध ही है, इसीके पीछे दुनियाँ मर–मीट रही है । स्वत्व याने दूसरों पर हुकुम चलानेकी अभिलाषा भी सबको थोड़ी–बहुत रहती ही है । अधिक नहीं, तो कम-से-कम अपने आदमियों पर ही सही, हुकुम चलाते हुऐ सबको यही इच्छा रहती है कि मुज़ पे किसीका हुकुम न हो–मैं अन्य पर शासन करूं, पर मुज पे अन्य किसीका शासन न हो । इस प्रकार स्वतन्त्रता भी सभी चाहते हैं, पशु, पक्षी भी परतन्त्र रहने की अपेक्षा स्वतन्त्र रहना अधिक पसन्द करते हैं, पराधीनताका बन्धन किसे सुहायगा ? जरा भी पराधीनताकी प्रतीति होने पर झट जबान खुल जाती है कि " पराधीन सुपने सुख नाहीं " । जैसा स्वभाव होता

है, वैसी ही इच्छा हुआ करती है। जीव ईश्वरभावकी इच्छा ही नहीं, लिप्सामें लथ-पथ है, इससे जाना जाता है कि जीवका स्वभाव ईश्वर ही है। जीव अपनी स्वभाविक इच्छा पूरी कर सके-ईश्वर बन सके, भले बने। मुझे तो 'मैं ब्रह्म हूं'-ऐसी लिप्सामें फसा पड़ा रहनेमें ही मजा मिलता है ॥१०॥

सच्चिदानन्दधर्मं तत् सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
सच्चिदानन्दमात्रं तत्सद्धि ब्रह्मास्मि चित्सुखम् ॥ ११ ॥

सत्, चित्, आनन्द, ये तीनों ब्रह्मके धर्म हैं, वास्तवमें सत्, चित्, आनन्द, ये तीनों ब्रह्मका शरीर-स्वरूप ही हैं, अतः सत्, चित, आनन्द, ये तीनों ब्रह्ममात्र हैं और वह सत्, चित्, तथा आनन्दरूप ब्रह्म मैं हूं।

धर्म नाम स्वभावका है। यह स्वभाव ही एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् करता है। जल अग्नि नहीं है और अग्नि भी जल नहीं है, क्योंकि इन दोनोंका स्वभाव या धर्म अलग अलग है। जलका स्वभाव शीतल है और अग्निका उष्ण। इस लिये जल और अग्नि ये दोनों पृथक् हैं। इसी प्रकार सत्, चित्, और आनन्द, यह ब्रह्मका स्वभाव ही ब्रह्मको असत्, जड़, या दुःखमय मायिक पदार्थोंसे पृथक् करता है। ब्रह्म 'सत्' है-भूत भविष्यत् एवं वर्तमान, तीनों कालों में जो अविकृतरूपसे अवस्थित रह सकता हो, उसे 'सत्' कहते हैं; ब्रह्म तीनों कालोंमें एकरस रहता है, अतः एव वह 'सत्' है। और तीनों कालोंमें अविकृतरूपसे अवस्थित न रह सकनेवालेको 'असत्' कहते हैं; मायिक पदार्थ तीनों कालों में नहीं रह सकते, अतः 'असत्' हैं। 'सत्' ही अनादि, अनन्त या अविनाशी होता है, इनके विपरीत 'असत्' सादि, सान्त तथा नाशवान् होता है। जिसकी आदि होती है, अन्त भी उसीका आता है-जो

वस्तु उत्पन्न होती है, उसीका नाश हो जाता है। ब्रह्म आदि अन्त या उत्पत्ति-नाशसे रहित है, इसी लिये अनादि, अनन्त या अविनाशी है—अर्थात् 'सत्' है और मायिक प्रपंचके व्यष्टि-समष्टि सारे पदार्थ सादि, सान्त या उत्पत्ति-विनाश-शील है, इसी लिये 'असत्' हैं। ब्रह्मका यह 'सत्' स्वभाव ही स्थूल-सूक्ष्म समस्त 'असत्' प्रपंचसे ब्रह्मको पृथक करता है। 'असत्' से अलग समझनेके लिये ही ब्रह्मको 'सत्' कहा है। ब्रह्मका दूसरा स्वभाव 'चित्' है। यह 'चित्' स्वभाव ही ब्रह्मको 'अचित्' जड़ प्रपंचसे पृथक करता है, यह पृथक करके समझाता है। ब्रह्मका तीसरा स्वभाव 'आनन्द' है। यह 'आनन्द' स्वभाव ही ब्रह्मको 'दुःखमय' दुनियासे निराला करता है, निराला करके जनाता है। सहजमें समझमें आ जाय, इसी लिये त्रिविध विभाग है, वास्तम में तो 'सत्' 'चित्', 'आनन्द' तीनों ही ब्रह्मका विग्रह है, शरीर है। ये तीनों अलग अलग तीन तत्त्वके तीन नाम नहीं हैं अथवा एक शरीरमें रहनेवाले ये तीनों अलग अलग धर्म या स्वभाव भी नहीं है; किन्तु एक ही परम तत्त्वके स्वरुप हैं। यदि 'सत्' मतिष्क है तो 'चित्' ब्रह्मकी आँखें है और 'आनन्द' उसका हृदय है। एक ही ब्रह्म तत्त्वकी त्रिविध अनुभूति मात्र है। दृष्टिभेदके कारण एक ही ब्रह्मका त्रिविध अनुभव होता है। 'ब्रह्मास्मि' की भावना करते करते साधकके सात्त्विक हृदय में सत्स्वरुप ब्रह्मका ज्ञान होने लगता हैं। जब साधकके शुद्ध अन्तःकरणके आंगनमें ज्ञान सूर्यका पूर्ण उदय हो लेता है; तब उदयकालमें ही ब्रह्मसत्ताकी पूर्ण अनुभूति हो जाती है। इस प्रपंचका अभिन्न-निमित्तोपादानकारण ब्रह्म है। कारण की सत्ता कार्यकी सत्तासे सर्वथा स्वतन्त्र होती है और कार्यकी सत्ता कारणकी सत्ताके परतन्त्र ही रहती है। कारणभूत सुवर्णकी सत्ता के आधीन ही कार्यभूत आभूषणोंकी सत्ता हुआ करती है, कारण-

रूप ब्रह्मसत्ताके उपर ही कार्यरूप प्रपंचकी सत्ता निर्भर है। ब्रह्म सत्तासे ही प्रपंच सत्तावान् होता है। ब्रह्मसत्ता ही वास्तविक सत्ता है.-प्रपंच सत्ता नहीं; यही नहीं, प्रत्युत प्रपंचके मूलभूत मूलाविद्यारूप मायाकी सत्ता भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मसत्तामें लीन हो जाने पर जो शेष रह जाता हैं, वह भी ब्रह्मसत्ता ही होती है। सारांश यह कि कार्य के नियतपूर्ववर्ती होनेके कारण सृष्टिके पदार्थोंमें एक ब्रह्मसत्ता ही ओत-प्रोत रहती है और अन्तमें प्रलय या आत्यन्तिक प्रलयरूप मोक्ष हो जाने पर भी वही एक ब्रह्मसत्ता ही रह जाती है। यों तीनों कालोंमें अबाध्य-अविकृतरूपसे अवस्थित रहनेवावी सत्ता ही 'सत्' है और वही ब्रह्म है। इस तरह साधकके सात्त्विक अन्तःकरणमें ज्ञानके उदयकालमें ही 'सत्' ब्रह्मका यथार्थ अनुभव होता है। इस अनुभवात्मक दृष्टिसे ब्रह्मको 'सत्' कहा जाता है। फिर इस अनुभवके साथ-साथ ज्यों-ज्यों 'ब्रह्मास्मि' की भावना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उस साधकके हृदयकाशमें ब्रह्मके "चित्" चैतन्य स्वरुपका प्रकाश फैलता जाता है और क्रमशः ज्ञान सूर्यके एक प्रहर का समय हो जाने पर चैतन्यके फुहारे उछल ऊठते हैं। इस दशामें साधकको ब्रह्मप्रकाशके अतिरिक्त अन्य कुछ दीखता ही नहीं। तमाम प्रपञ्चके 'चित्' में से ही, ब्रह्म चैतन्यमें से ही प्रकट हुऐ, उसी में स्थिति लाभ करते हुऐ और उसीमें लीन होते नजर आते हैं और उसमें सबका लय हो जाने पर शेष भी वह 'चित्' ही रह जाता है। ज्ञानके उदयकालमें जो ब्रह्म 'सत्' रूपसे प्रतीत हुआ था, वही ज्ञानसूर्यके एक प्रहर चढ़ जाने पर 'चित' रूपसे अनुभूत होता है। इसी अनुभवके लक्ष्यसे उस 'सत्' ब्रह्मको ही 'चित्' कहा जाता है। वह ज्ञान सूर्यके मध्यान्हकालमें-ज्ञानकी परिपाकावस्थाके समयमें वह साधक सिद्ध हो जाता है। उस सिद्ध ज्ञानीके हृदयकी गहराईमें से 'आनन्द'

का प्रवाह उमड़ आता है। इस आनन्द प्रवाहके प्रबल वेगमें उसका नाम रूपात्मक सारा संसार वह जाता है और उसके अन्दर-बाहर, आजू-बाजू, उपर-नीचे आनन्द-ही-आनन्दका सागर लहराने लगता है। उसके अनुभवका विषय एकमात्र आनन्द ही होता है। इसी लिये उस 'सत्' और 'चित्' ब्रह्मको ही 'आनन्द' रूपसे वर्णन किया जाता है। इस प्रकार अनुभवात्मक दृष्टिभेदके कारण 'सत्', 'चित्', 'आनन्द', रूपसे ब्रह्मका विलेष वर्णन होता है, वास्तवमें ब्रह्म निाविशेष है। जब 'सत्' चित्' और 'आनन्द' की बाढ़में सारा जगत् सच्चिदानन्द जलमय हो गया, तो उसका द्रष्टा-उस त्रिविध अनुभवका कर्ता भी उसीमें मग्न हो गया, उसका कर्तृत्व घुल गया और वह ब्रह्म बन गया। इस प्रकार त्रिवि. अनुभवमें और त्रिविध कालमें विद्यमान होने पर भी उनसे परे-अनुभवातीत एवं कालातीत जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूं ॥११॥

मीन इव पिपासार्त आनन्दसागरे वसन्।
यावन्नान्तर्मुखस्तावद् अतो ब्रह्मास्मि भाव्यताम् ॥१२॥

स्वच्छ और मधुर जलसे भरे हुऐ सरोवरमें बसनेवाली भी मछली तब तक प्याससे पीडित ही रहती है, जब तक कि उलट कर गुलांट नहीं खाती। वैसे ही आनन्दामृतसे परिपूर्ण सागरमें निवास करनेवाला जीव भी तब तक प्याससे व्याकुल ही रहता है, जब तक कि अन्तर्मुख नहीं होता। अतः अन्तर्मुख हो कर आनन्दामृतका पान करने के लिये ब्रह्मास्मि की भावना करते रहना चाहिये।

जिस सरोवरके जलमें स्फटिककी छटा छिड़क रही है, चन्द्रकी शीतलता लहरा रही है और सुधाका माधुर्य महक रहा है; उसमें रुचिर एवं सुचिर निवास करनेवाली मछली एक क्षणके लिये भी उससे-उसके जलसे अलग नहीं रह

सकती, फिर भी पिपासे पीडित रहती है, आकुल–व्याकुल होती है, प्यासकी आगमें तड़पती रहती है। परन्तु यह सब कब तक, जब तब कि वह उपरको मुख नहीं करती, उपरको मुख नहीं करके उलट कर गुलांट नहीं खाती। उलटने पर ही वह जल पी सकती है, उसे प्याससे पिण्ड छुड़ानेके लिये उलटना पड़ता है। जिस घड़ी वह उपरको मुख करके उलट जाती है, उसी घड़ी उस सरोवर के पवित्र जलका पान कर लेती है। उसकी प्यास मिट जाती है, तो वह तृप्त हो जाती है और मस्तीमें डोलने लगती है, चटपट-चटपट दुम हिलाती हुई तैरने लगती है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्मानन्दके महासागरमें ही निवास करता है, सदा सर्वदा उसीमें रहता है, क्षण भरके लिये भी उससे विलग हो नहीं सकता। वह माने, चाहे न माने, उसे रहना उसीमें है उसका साक्षात् या परंपरा-दोनों तरह का आधार सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा, ही है। साक्षात् आधार तो पृथ्वी प्रतीत होती है।जीव रेल में हो, या मोटरमें पृथ्वी पर ही दौड़ता-फिरता है,. महलमें हो, चाहे झोपडीमें, पृथ्वी पर ही सोता बैठता है,. उसका पैर सिंहासन पर हो चाहे कांटो-कंकड़ों पर वास्तवमें जमीन पर, ही होता है,. क्योंकि सबका (भौतिक जगत का) आधार पृथ्वी है। पृथ्वी का आधार जल है, जल का तेज, तेजका वायु और वायुका आधार आकाश है; परन्तु इस आकाशका भी परम आधार महाकाश है। यही सबका परम एवं चरम आधार हैं जो दूसरे सबका आधार होता हुआ भी स्वयं किसी दूसरे आधार की अपेक्षा न रखता हो-वही वास्तविक आधार हो सकता है। ऐसा असली आधार महाकाशरूप परब्रह्म परमात्मा ही है। वे ही अन्य सबको आश्रय देते हुये स्वयं स्वमहिमामें प्रतिष्ठित हैं। जीव हजार चाहने पर-हजार प्रयत्न करने पर भी इस परम आधार परमात्मा से पृथक नहीं हो सकता, नित्य-निरन्तर इसीमें पथरा पड़ा

रहता है। जैसे आकाशके बिना जीव उठ-बैठ या चल-फिर नहीं सकता-यही नहीं, किन्तु बोल या सुन भी नहीं सकता; क्योंकि जिससे बोलता है वह वाणी इन्द्रिय, जिससे सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय और बोलने या सुननेके लिये जो शब्द, वे सब आकाशके कार्य होनेसे तत्त्वरूपसे आकाश ही है। वैसे परमात्मरूप परम आधारके बिना भी जीव कुछ कर नहीं पाता। इस प्रकार जीवका साक्षात् या परम्परा आधार परमात्मा ही है। वही आनन्दका महासागर है। जो आनन्दकी रसभरी लहरें उछाल-उछाल कर नीरसताको मिटा रहा है, चैतन्यकी छटाको छिड़क कर जड़ताको विलीन कर रहा है और सत्ताकी सौरमको फैलाकर असत्की गन्दकीको अलग फेंक रहा है-ऐसे सच्चिदानन्द महासागरको छोड़ कर जीव कहां जा सकता है, कैसे रह सकता है। उसे तो जाने-अजाने उसीमें रहना है, उस महासागरमें अहर्निश निवास करता हुआ भी जीव पिपाससे पीडित रहता है, त्रिविध तापकी आगमें जलता-झलसता रहता है, आवरणके अँधेरसे घिरा रहता है विक्षेपकी आँधीसे पटका जाता है, कुवासनाओंके काले-काले बादल अपने चारों ओर गरजते हुये उसे नजर आते हैं, सुख-शान्तिका नाम भी कहीं सुनाई नहीं पड़ता, चैन-अमनका छिटा भी नहीं बरसता, और उस अँधेरसे, उस आँधीसे, उस गर्जन-तर्जनसे छुटकारा पाकर निश्चिन्ताकी एक श्वास खींचनेके लिये आश्वासनका मार्ग बतलानेवाला प्रकाशका एक किरण भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रकार विपदाओंके दावानलमें दिनरात जीव तड़पता रहता है और तब तक तड़पता रहेगा, जब तक 'ब्रह्मास्मि' की भावना करके अन्तर्मुख नहीं होता, मछलीकी मुवाफिक उलट कर गुलांट नहीं खाता। जिस क्षण जीव अन्तर्मुख होगा, उसी क्षण वह अपने आपको पिपासाके पिण्डसे सर्वथा छुटा हुआ पायगा, निरंकुश तृप्तिका अनुभव करेगा और अपने ही हृदयमें आनन्दामृत रसका थण्डा

और मीठा झरा फूट पड़ा हुआ देखेगा। उसके अप्रतिहत प्रवाहसे सारा भव-सागर भर जायेगा-उद्वेलित हो उठेगा, उसकी सारी आपदायें उसमें डूबकर अदृश्य हो जायेगी और वह आनन्दामृतके आस्वादकी खुमारीमें झूमता हुआ उस महासागरमें विहार करने लगेगा। जीवन्मुक्तिके मार्गसे प्रारब्धभोग पूरा करता हुआ वह उस महासागरमें मग्न हो जायेगा विदेह मुक्तिको भी पा लेगा। ऐसा होने के लिये उसे अज्ञान से विमुख हो कर ज्ञानके सन्मुख होना होगा. रागके पाशको छिन्न-भिन्न करके त्यागके फन्दे में फसना होगा, आसक्ति से उलटकर मोक्षेच्छामें पड़ना पड़ेगा, मोह से गुलांट खा कर प्रेम में कूदना पड़ेगा, अहंममाध्यासाको तिलांजलि देकर 'ब्रह्मास्मि' की भावना करते रहना होगा और बहिर्मुखता से बाहर होकर अन्तर्मुखता के अन्दर आना होगा। अन्तर्मुखता ही एक ऐसी चमत्कारी चीज है, जो नित्य, निरन्तर, निर्भय और निरङ्कुश सुख तथा अखण्ड एकरस तृप्तिको एक पलकारेमें दे डाल्ती है। ऐसी अन्तर्मुखताको प्राप्त करनेके लिये अमोघ और असन्दिग्ध उपाय है, 'ब्रह्मास्मि' की भावना। सो इस भावनाको प्रतिदिन यथावकाश और यथाशक्ति करते रहना चाहिये। १२।

अन्तर्दग्धे जगद्दग्धम् अन्तःशीते तु शीतलम्।
शीलं सम्पादनीयं हि नित्यं ब्रह्मास्मि शीलनात्॥ १३॥

जिसका मन दग्ध है. उसके लिये जगत् भी जला हुआ ही है और जिसका मन शीतल है, शान्त है उसके लिये जगत् भी शीतल ही है। इस लिये ब्रह्मास्मिका परिशीलन करके मनके शील, स्वभावको शीतल बना लेना चाहिये।

जिसका मन जला–भुना है, उसके लिये जगत् भी जलती हुई आग है। वह दैवयोगसे स्वर्गमें चला जाय, तो वहां भी उसे आग-ही-आग बरसती हुई

नजर आयगी । आग-बबुले मनसे देखा जानेवाला इन्द्रासन भी आग ही उगिलता हुआ प्रतीत होगा । उसके लिये सर्वत्र उपद्रव-ही-उपद्रव है, कहीं भी सुख-शान्तिका स्थान नहीं । और जिसका मन शीतल है. उसके लिये जगत् भी थण्डा.गार ही है । वह घोर नरकमें भी पूर्ण शान्तिका अनुभव कर सकता है । सुख, दुःखको देनेवाला केवल मन ही है, अन्य कोई शत्रु, मित्र आदिक नहीं । मनको शान्त न करके शत्रुको शान्त कर डालनेकी कोशिस करना, निरी मूर्खता ही है; क्योंकि शत्रु, मित्र या अपने, परायेकी कल्पना करानेवाला मन ही तो है । इस लिये मनको ही शान्त कर लेना चाहिये, ताकि सब कुछ आप ही शान्त हो जाय । शान्त मनको किसी प्रकारकी भी खट-पटका कोई उपयोग नहीं, अगर प्रारब्धानुसार खट-पट हो जाय, तो उसका कुछ असर भी नहीं । इन्द्रियां सभी मनके आधीन हैं; मनके शान्त हो जाने पर शान्त हो जाती हैं । तात्पर्य यह कि मन ही शान्ति-अशान्ति या सुख-दुःखका कारण है । संसार तो मनकी भावनाके अनुसार, भावनाके रंगमें रँगा हुआ, ही दीखता है । संसार यदि जले-भुने मनकें लिये प्रचण्ड दावानल है, तो शान्त मनके लिये शान्तिका समुद्र भी वही है । अतः नित्य-नियमसे 'ब्रह्मास्मि' का परिशीलन करके मनके शीलको शीतल बना लेना चाहिये ।

अथवा-जिस परमेश्वरके प्यारेने अपने मनको दग्ध कर लिया है, जला डाला है, मनोनाश कर लिया है; उसके लिये समस्त संसार भी दग्ध हो चुका है, जल-भुनकर नष्ट हो गया है । मन ही तो संसार था, मनके दग्ध हो जाने पर मनका माना हुआ-मनमें भरा पड़ा वह कहां बच सकता था ? मनके जल ऊठने पर उसे भी जलना ही पड़ा । तथा जिसका मन शीतल है, संसारकी

शेहसे सिकुड़ा-ठिठुरा रहा है, आलस्य और प्रमादकी शीत (जाडे) के मारे जड़ हो रहा है; उसके लिये जगत् भी शीतल है, जड़ है, ऐसा थण्डा-गार है कि तनिक भी गरम नहीं हो सकता, वैसा–का–कैसा ही बना रहता है। इस लिये नित्य–नियमसे 'ब्रह्मास्मि' का परिशीलन करके मनके शीलको विरागकी आगसे उग्र करते रहना चाहिये; ताकि जड़ संसार उस आगमें जड़ समेत जल कर उड़ जाय और भस्म भी शेष न बचने पाय। १३।

सचित्राज्ञानकर्पूरं दग्धं ज्ञानाग्निनाऽखिलम्।
भस्मापि नावशिष्टं वै शुद्धं ब्रह्मास्मि संस्थितम्॥ १४॥

जिस प्रकार कर्पूर की टिकिया आगकी लपटसे जलकर उड जाती है, उस पै निकाली हुई चित्रकारी भी उसीके साथ हवा हो जाती है और भस्म भी बचने नहीं पाता। ठीक उसी प्रकार सारी अविद्या ज्ञानाग्निसे जलकर उड गई, जगत्-रूपी चित्र भी उसके साथ ही हवा हो गया और बाधितानुवृत्तिरूप भस्म भी शेष न रह पाया। अब मैं शुद्ध ब्रह्मरूपसे संस्थित हूं। १४।

धूकव्यवहृतेः शान्तिर् आदित्यस्योदये यथा।
ज्ञानस्याज्ञानचेष्टायाः शिष्टं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम्॥ १५॥

जैसे सूर्यनारायणके उदित होने पर उल्लू (पक्षी) की चेष्टा शान्त हो जाती है, वैसे ज्ञानका उदय होने पर अज्ञानकी चेष्टा निवृत्त हो गई और मैं चेष्टा रहित ब्रह्मरूपसे रह गया हूं। १५।

चिन्मात्रं परमं बीजं चिन्मात्रं परमं फलम्।
चिन्मात्रं परमं पत्रं मूलं ब्रह्मास्मि चिन्मयम्॥ १६॥

सृष्टिका बीज परम चिन्मय है, फल परम चिन्मात्र है, पत्र परम चिन्मात्र है और मूल भी परम चिन्मात्र ही है; तो मैं भी परम चिन्मय ब्रह्म ही हूं । १६ ।

चिन्मयी च स्वयं सृष्टिश् चिन्मयी च स्वयं कृतिः ।
चिन्मयश्च स्वयं कर्ता सर्वं ब्रह्मास्मि चिन्मयम् ॥ १७ ॥

सृष्टि स्वयं चिन्मय है, सृष्टिकी उत्पत्ति या स्थिति आदिके लिये किया जानेवाला प्रयत्न भी चिन्मय ही है और सृष्टिकी रचना करनेवाला परमात्मा भी चिन्मय है । सब कुछ चिन्मय है तो मैं भी चिन्मय ब्रह्म ही हूं । १७ ।

दुग्धे घृतं तिले तैलं पुष्पे गन्धो यथा स्थितः ।
सर्वत्रावस्थितं तद्वद् अहं ब्रह्मास्मि सौलभम् ॥ १८ ॥

जैसे दूधमें घी, तिलोंमें तैल और फूलोमें वास बसा हुआ है; वैसे जो ब्रह्म चराचरमें समान भावसे अवस्थित है, वह अति सुलभ ब्रह्म मैं हूं । १८ ।

सद्भावेन जडेव्याप्तं चिद्भावेनाजडे तथा ।
मुक्तेष्वानन्दभावेन तद्धि ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥१९॥

सद्भावसे-सत्तारूपसे जड़ जगतमें, चिद्रूपसे चेतनमें और आनन्दरूपसे जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें व्याप्त जो ब्रह्म है, वह सर्वव्यापी ब्रह्म मैं हूं । १९ ।

शुक्तौ रूप्यं मरौ नीरं रज्जौ सर्पो यथा तथा ।
मिथ्या ब्रह्मणि जीवोपि सत्यं ब्रह्मास्मि वास्तवम् ॥ २० ॥

जैसे सीपमें चाँदी, मरुमरीचिकामें जल, रस्सीमें सर्प मिथ्या प्रतीत होता है; वैसे ही ब्रह्ममें जीवभाव भी मिथ्या ही मालूम हो रहा है । वास्तवमें तो अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है और वह (ब्रह्म) मैं हूं । २० ।

स्तम्भःस्तेनो नभो नीलं शङ्खः पीतः सिता कटुः ।
ब्रह्मैव जीवको दोषात् समं ब्रह्मास्मि दोषहृत् ॥ २१ ॥

जिस प्रकार अन्धकाररूपी दोषसे खंभा डाकू दीखता है, दूरतारूप दोषसे आकाश नीला दीखता है, कामल (नेत्ररोगरूप) दोषसे शंख पीला प्रतीत होता है और पित्तदोषसे सक्कर भी कडवी लगती है; इसी प्रकार अविद्या दोषसे ब्रह्म ही क्षुद्र जीव हो रहा है। वास्तवमें तो ब्रह्म निर्दोष और सम ही है। दोष रहित ही नहीं, दोषको दूर करनेवाला भी है और वह 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' मैं ही हूं । २१ ।

वन्ध्यापुत्रः खपुष्पं वा शशशृङ्गं यथा तथा ।
नास्ति कालत्रये जीवोऽप्यस्ति ब्रह्मास्मि सर्वदा ॥ २२ ॥

जैसे वन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्प और शशश्रृंग तीनों कालमें भी नहीं हैं, वैसे जागतिक जीव भी न तो कभी था, न है और न आगे होगा ही। हाँ, त्रिकालाबाध्य एक ब्रह्म हमेशाँ है और वह मैं हूं । २२ ।

सीपमें चाँदी प्रतीत होने पर भी सीप, सीप ही है; चाँदी नहीं बन गई है। जिस समय सीपमें चाँदी दीखती है, उस समय भी एक सीप और दूसरी चाँदी, यों दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं है। सीपका स्वरूप बिगड़े बिना ही भ्रमसे चाँदी देखनेमें आती है। जिस समय भ्रम होता है,' उस समय किसीको यह पता नहीं चल सकता कि मुझे भ्रम हो गया है और मिथ्या चांदी ही लोभ कराके ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति आदिका कारण होती है। जीव और जगत भी इसी प्रकारका है, मिथ्या होकर भी अज्ञानसे सच्चा प्रतीत होता है और शोक,

मोह आदिका कारण बनता है। ब्रह्ममें जीव या जगत प्रतीत होने पर भी ब्रह्म, ब्रह्म ही है, ब्रह्म, जीव या जगत् नहीं बन जाता। जिस समय जीव या जगत् दीखता है, उस समय भी एक जीव या जगत और दूसरा ब्रह्म, यो द्वैत नहीं हो जाता। ब्रह्मका स्वरूप बिगड़े विनाही अज्ञानसे जीव और जगत् देखनेमें आता है। जब तक अज्ञान है, तब तक यह पता नहीं चल सकता कि मुझे अज्ञान हो रहा है और यह सब अज्ञानसे ही भास रहा है, प्रत्युत सत्य ही प्रतीत होता है। इस सत्यदृष्टिको तोड़नेके लिये ये सब दृष्टान्त हैं।

ग्रीष्म ऋतुके समय मरुभूमिकी रेतीमें सूर्यकी किरणें पड़ती हैं, वे तापमय किरणें-बह गरमी इतनी अधिक होती है कि रेतीमें समा नहीं सकती। जितनी गरमी रेती सहन कर सकती है, उतनी पचा लेती है और बाकी गरमीको उगील देती है अथवा जितनी गरमीको रेतीमें स्थान नहीं मिलता, उतनी अपने आप ही धांय-धांय करती जमीनसे उपरको ऊठने लगती है। दूरसे देखनेवालेको वही उपर ऊठी हुई गरमी जलरूपसे प्रतीत होती है। जलके सरोवरकी प्रतीति होते समय भी वहां रेतीका एक कण भीग सके उतना भी जल नहीं होता, प्रत्युत् जलसे विरुद्ध स्वभाववाली मरीचिकायें-सूर्यकी किरणें ही झांय-झांय करती होती हैं। इसी प्रकार भ्रान्तिसे ब्रह्मरूप मरुमरीचिकामें जगत्-रूप जल भासता है।' यद्यपि मरुमरीचिकाके जलसे प्यास नहीं बुझती, जगत् भी मरुमरीचिकाके जलके समान हो, तो जगतके जलसे भी प्यास न बुझनी चाहिये, परन्तु प्यास तो बुझती है, अतःदृष्टान्त ठीक नहीं हुआ-अर्थात् जगत् और मरुजल समान न हुए। तथापि जगत् भ्रान्तिरूप है और इस भ्रान्तिरूप जगत्में मरुजल भ्रान्तिरूप है, इस लिये दोनोंकी स्थितिमें भेद है; जगत्की प्यास जगत्में स्थित जलसे जाती है और भ्रान्तिरूप जगतमें स्थित भ्रान्तिरूप

मरुजलसे नहीं जाती-अथवा दोनोंकी सत्तामें भेद है; जगतकी व्यावहारिक सत्ता है और मरुजलकी प्रातिभासिक सत्ता है, जगतकी प्यास जगतके समान व्यावहारिक सत्तावाले जगतके जलसे जाती है और जगतसे विषम सत्तावाले प्रतिभासिक मरुजलसे नहीं जाती। समान सत्तावाले ही आपसमें साधक-बाधक हुआ करते हैं।

जहां-जहां रज्जु आदिमें सर्पादिकका अध्यास होता है; वहां सर्वत्र प्रकाश और अन्धकारकी तरह ज्ञान एवं अज्ञान, दोनोंकी अपेक्षा होती है। यदि स्फुट प्रकाश हो और रज्जुका स्पष्ट भान हो जाय, तो अध्यास नहीं होता तथा घने अन्धेरेमें रज्जू ही न दीखे तो भी अध्यास नहीं हो सकता; किन्तु झांखा-झाखा, प्रकाश और आछा-आछा अन्धकार; दोनो हो, तभी अध्यास हुआ करता है। वैसे सामान्य-रूपसे ज्ञान एवं विशेषरूपसे अज्ञान, इन दोनोंके होने पर ही अध्यास होता है। 'यह रज्जु है' इसमें दो अंश है, एक सामान्य और दूसरा विशेष्य। 'यह' सामान्य-अंश है, क्योंकि यह रज्जु, यह सर्प, यह मैं, यह दुनियाँ-इस प्रकार सबके साथ सामान्य रूपसे बोला जा सकता है और 'रज्जु' विशेष्य-अंश है, क्योंकि रस्सीरूप विशेष्यके साथ ही प्रयुक्त हो सकता है। कुछ-कुछ प्रकाश और थोड़े-थोड़े अन्धकारमें रज्जुके सामान्य-अंश 'यह' का "यह लम्बा-लम्बा कुछ है" इस प्रकार सामान्य ज्ञान होता है और विशेष्य-अंश 'रज्जु' का "रस्सी है" इस प्रकार विशेष ज्ञान नहीं होता। विशेष ज्ञानका न होना ही विशेष्य-अंशका अज्ञान है। इस अज्ञानमें दो शक्ति हैं एक आवरणशक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण शक्तिसे रज्जुका विशेष्य-अंश याने रज्जुका स्वरूप आवृत्त होता है और दूसरी विक्षेप शक्तिसे रज्जुके बदले सर्पका स्वरूप दीख जाता है। तात्पर्य यह कि 'यह' इस सामान्य

अंशके साथ रज्जुके विशेष्य-अंशकी 'रज्जु है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये थी, उसके बदले 'सर्प है' ऐसी प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मके सामान्यरूपसे-सत्तामात्ररूपसे ज्ञान और विशेषरूपसे-नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द-रूपसे अज्ञान होने पर अज्ञानकी आवरणशक्तिसे ब्रह्मके विशेषरूपका आच्छादन होता है और विक्षेपशक्तिसे जीव एवंम् जगत्का प्रदर्शन होने लगता है। जैसे सर्पमें प्रतीत होनेवाली लम्बाई या मोटाई रज्जु की ही होती है, सर्पकी अपनी नही; वैसे जगत्में प्रतीत होनेवाली सत्यता भी सद्-रूपब्रह्मकी ही होती है, जगतकी निजी-सम्पत्ति नहीं होती। जिस समय रज्जुमें सर्प, सर्पकी आँखें, मुख, पुँछडी आदि प्रतीत होते हैं, उस समय भी रज्जुमें कुछ भी नहीं होता, वैसे जिस समय अधिष्ठान ब्रह्ममें जीव, जगत् आदिका प्रदर्शन होता है, उस समय भी अधिष्ठान ब्रह्ममें इनमें का कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार विषधर सर्पकी प्रतीति होने पर भी रज्जु विषैली नहीं बन जाती, जल-धाराकी प्रतीति होने पर भी रज्जु भीग नहीं जाती, उसी प्रकार दुःख, दीनता या शोक मोहके प्रदर्शपर-प्रदर्शन होने पर भी ब्रह्मदुःखी दीन या शोक मोहवाला नहीं होता। सर्प दीखने पर भी रज्जु मिट नहीं जाती, जीव और जगत् का प्रदर्शन होने पर भी ब्रह्म बिगड़ नहीं जाता। एक रज्जु और दूसरा सर्प, यों दो नहीं हो जाते, एक ब्रह्म और दूसरा जीव या जगत्, यों द्वैत नहीं बन जाता। सर्प दीखने पर भी रज्जु, रज्जु ही है, जीव और जगत्का प्रदर्शन होने पर भी ब्रह्म, ब्रह्म ही है; क्योंकि सर्प और जगत् अध्यस्त होनेसे मिथ्या है एवं रज्जु और ब्रह्म अधिष्ठान होनेसे सत्य है, अध्यस्त कल्पित या मिथ्या होता है, अधिष्ठान वास्तविक या सत्य होता है और मिथ्यासे सत्यके स्वरूपमें लेशमात्र भी फरक नहीं आ सकता।

भूत, भविष्यत् और वर्तमान, तीनों कालमें जो एक-सा रह सकें, उसे सत्य कहते हैं, इसके विरुद्ध जो किसी कालमें न हो, उसे असत्य कहते हैं और जो किसी-एक कालमें हो, उसे मिथ्या कहते हैं। रज्जु सर्पकी प्रतीतिसे प्रथम थी, जिस समय सर्प दीखता है-उस समय भी है और रज्जुके ज्ञानसे सर्पका अभाव हो जानेपर भी रहती है; यों तीनों कालमें रहनेवाली रज्जु सत्य है (व्यावहारिक दृष्टिसे)। ब्रह्म जगत्की सृष्टिसे पहले भी था, जगत्की स्थितिके समय भी है और प्रलय या मोक्षमें जगत्का अभाव हो जाने पर भी रहता ही है; अतः तीनों कालमें विद्यमान रहनेवाला ब्रह्म सत्य है; तीन कालमेंसे किसी कालमें भी न होनेवाले वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि असत्य हैं। सर्प, प्रतीतिसे प्रथम नहीं होता, रज्जु-ज्ञानके अनन्तर भी नहीं रहता, किन्तु केवल प्रतीति कालमें या रज्जुके अज्ञानकालमें रहता है-इस प्रकार सर्प तीनों कालमें रज्जुकी तरह बराबर रहनेवाला न होनेसे सत्य नहीं है; प्रतीति कालमें होनेसे किसी कालमें न रहनेवाला भी नहीं है, अतः वन्ध्यापुत्रकी तरह असत्य भी नहीं है, किन्तु एक कालमें-प्रतीतिमात्र कालमें रहनेवाला होनेसे मिथ्या है। जगत् भी सृष्टिके पहले नहीं था, प्रलयमें भी नहीं रहता अथवा मोक्ष या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भी नहीं रहता; किन्तु केवल स्थिति कालमें या अज्ञानकालमें रहता है-इस प्रकार ब्रह्मके समान तीन कालमें बराबर न रह सकनेवाला जगत् सत्य नहीं हो सकता और स्थिति कालमें या अज्ञान कालमें रहनेवाला होनेके कारण किसी कालमें न रहनेवाले वन्ध्यापुत्रके समान असत्य भी नहीं है; किन्तु एक कालमें, स्थिति या अज्ञान कालमें रहनेवाला होनेके नाते मिथ्या है।

जो जगत् संसारियोंकी समझमें सत्य था, वही मुमुक्षुओंकी दृष्टिमें मिथ्या हो जाता है। मिथ्यामें मोह नहीं होता; मोह तोड़ कर वैराग्य बढ़ानेमें मिथ्या

जगत् मुमुक्षुओंको सहायक होता है, अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला जगत् झट-पट अज्ञानसे छुट्टी पाकर जगत्से भी छुट्टी पा लेनेमें तत्पर करता हुआ मुमुक्षुओंकी मुमुक्षा को दृढ़ करता है। ज्ञानिजनोंकी दृष्टिमें आकाश-नीलताकी तरह दोषसे दीखता हुआ भी जगत् नहीं है। सबको पक्की खातरी है की आकाश में कोई भी रंग नहीं है, फिर भी दुरतारूप दोषसे नीलता दीखती ही रहती है। दीखती हुई भी नीलता है नहीं और 'नहीं है' एसी पक्की खातरी होने पर भी दीखती रहती है। वैसे ज्ञानियोंको पक्का अनुभव है, दृढ़ निश्चय है कि ब्रह्मस्वरुपमें जगत् है ही नहीं; फिर भी लेशाऽविद्यारूप दोषसे दीखता रहता है। दीखता हुआ भी जगत् है ही नहीं और 'है ही नहीं' ऐसा अपरोक्ष अनुभव होने पर भी, दृढ़ निश्चय होने पर भी जब तक लेशाऽविद्या रहतीं है; तब तक दीखता रहता है। आकाशनीलताके समान ज्ञानिजनोंका जगत् हेयोपादेयभावसे रहित ही होता है। मुक्त महा पुरुषोंके लक्ष्यसे वन्ध्यापुत्रके समान जगत् तीन कालमें है ही नहीं। जैसे वन्ध्यापुत्र किसी कालमें भी नहीं दीखता; वैसे जगत् न प्रथम था, न अब है और न आगे होगा ही, किसी कालमें भी प्रतीत होता ही नहीं है। यों संसारी; मुमुक्षु, ज्ञानी और मुक्तोंके लक्ष्यसे जगत्के प्रतिपादनका प्रयोजन है-यही इस 'ब्रह्मास्मि माला' के इन तीन मणकोंका तात्पर्य है। २०, २१, २२।

स्वेच्छे ब्रह्मणि चानिच्छे चित्रं चित्रपटे यथा।
नैकशो बिम्बितं चित्रं चित्रं ब्रह्मास्म्यचित्रितम् ॥२३॥

सिनेमाके पर्देको इच्छा नहीं है, फिर भी स्वच्छ होनेके कारण उस पर फिल्मोंके चित्र प्रतिबिम्बित होते रहते हैं और उसका बनता--बिगड़ता

कुछ भी नहीं। वैसे इच्छा रहित; परन्तु स्वच्छ ब्रह्म में भी जागतिक चित्रोंकी अनेक चित्र-विचित्र फिल्में अनेकबार प्रतिबिम्बित हो चुकी हैं, हो रही हैं और होती भी रहेगी, फिर भी वह ब्रह्म सर्वथा अचित्रित ही है, उसका कुछ भी बना बिगड़ा नहीं। ब्रह्म स्वरूपमें ही प्रतीत होनेवाले वे रङ्ग-बेरंगी चित्र ब्रह्मको अपने रङ्गमें न रंग सके, यहीं नहीं; किन्तु छू तक नहीं पाते-यही एक आश्चर्य है। वह निर्विकार ब्रह्म मैं हूं। २३।

अखण्डैकरसा सत्ता अखैण्डकरसा चितिः।
अखण्डैकरसा शान्तिः शान्तं ब्रह्मास्म्यखण्डितम् ॥२४॥

ब्रह्म अखण्ड-एकरस सत्तास्वरूप है, अखण्ड-एकरस चित्स्वरूप है और अखण्ड-एकरस शान्ति स्वरूप है। वह अखण्ड-एकरस एवं शान्त ब्रह्म मैं हूं। २४।

अखण्डैकरसं ज्योतिः अखण्डैकरसं सुखम्।
अखण्डैकरसं तत्त्वं ज्योतिर्ब्रह्मास्मि तात्त्विकम् ॥२५॥

ब्रह्मतत्त्व अखण्ड-एकरस है, अखण्ड-एकरस ज्योतिःस्वरूप है, अखण्ड-एकरस सुखरूप है और वह तात्त्विक ज्योतिःस्वरूप और सुखरूप ब्रह्म मैं हूं। २५।

केवलं सत्स्वरूपोस्मि केवलं ज्ञानविग्रहः।
केवलानन्दरूपोऽहम् अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥२६॥

मैं केवल सत्स्वरूप हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं और केवल आनन्दस्वरूप हूं; इस लिये केवल ब्रह्म मैं ही हूं। २६।

निश्चितं ब्रह्मरूपोस्मि निश्चितं विष्णुरूपवान् ।
निश्चितं शिवरूपोहम् अहं ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥२७॥

निश्चय ही मैं ब्रह्मारूप हूं, निश्चय ही विष्णुरूप हूं, निश्चय ही शिवस्वरूप हूं और निश्चय ही ब्रह्मस्वरूप भी मैं ही हूं । २७ ।

भक्तेज्य सगुणाकारं योगीड्य निर्गुणाकृति ।
मुक्तगम्यं निजानन्दं परं ब्रह्मास्मि दैवतम् ॥२८॥

भक्तजनोंकी भक्तिके लिये जो सगुण-साकार हैं, योगिजनोंके ध्यानके लिये जो निर्गुण-निराकार है और मुक्त पुरुषोंके अनुभवके लिये जो निजस्वरूपभूत आनन्द है-ऐसा परम दैवतशील ब्रह्म मैं हूं । २८ ।

सदोदितं स्वयंज्योति र्निर्धूमं विद्युतोपमम् ।
ज्योतिषामुदयस्थान परं ब्रह्मास्मि दैवतम् ॥२९॥

जो स्वयंज्योतिःस्वरूप है, जिसका उदय या अस्त कभी होता ही नहीं, जो बिजलीके समान निर्धूम है और बिजली, चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतियोंके उदयका स्थान भी है—ऐसा परम दैवतशील जो ब्रह्म, सो मैं हूं । २६ ।

सूर्यसौदामिनीचन्द्र-तारातेजस्विवस्तुनः ।
निःस्रवादुत्थसाराढयं परं ब्रह्मास्मि दुर्लभम् ॥३०॥

ब्रह्म स्वप्रकाश है । सूर्य, बिजली, चन्द्र, तारा आदि सभी तेजस्वी पदार्थ उस ब्रह्मप्रकाशसे ही प्रकाशित हैं इन सब तेजस्वी पदार्थोंको नीचोड़कर या तिलोंकी तरह कोल्हु (घानी) में पैर कर नितारे हुऐ सारसे भी बढ़कर रोनकदार है । उस ब्रह्मप्रकाशमें सूर्य की तेजस्विता, बिजलीकी चमक, चन्द्रकी

शीतलता, तारांगणोंकी कमनीयता आदि सब कुछ मौजूद है-भरा-पड़ा है । ऐसा चमत्कारिक ब्रह्म बहिर्मुख पुरुषोंके लिये दुर्लभ होते हुऐ भी अन्तर्मुख सज्जनोंके लिये इतना सुलभ है कि 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अन्तर्मुखवृत्ति करते ही अपने आत्मरूपसे ऊपलब्ध हो आता है । ३० ।

सौन्दर्यसरिदुत्थानं माधुर्ययमुनोद्गमः ।
श्रेयःसरस्वतीरम्भोऽपूर्वो ब्रह्मास्मि संगमः ॥३१॥

जो सौन्दर्यकी गङ्गाजीके प्रादुर्भावका स्थान है, जहांसे माधुर्य की यमुनाजीका उद्गम हुआ है और कल्याणमयी सरस्वतीका आरम्भ जहांसे होता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है । परब्रह्मस्वरूप परमात्मामेंसे ही श्रीगङ्गाजीके रूपमें सौन्दर्यका प्रवाह प्रवाहित होता है, श्रीयमुनाजीके रूपमें मधुरताका प्रवाह प्रकट होता है और श्रीसरस्वती के रूपमें श्रेयःका स्रोतः बहता रहता है । सच्चिदानन्दघन ही इन तीनों प्रवाहोंमें द्रवीभूत होकर इन्हें ब्रह्मद्रव होनेकी प्रतीति कराता है । ब्रह्म-स्वरूपमें ही सौन्दर्य, माधुर्य और कल्याणका सम्मेलन है, उसीमें तीनों संगत हुये भरे पड़े हैं एवं वहीसे प्रस्फुटित होते रहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म गङ्गा, यमुना और अन्तःसलिला सरस्वती का संगम तो है; परन्तु अपूर्व—अर्थात् तीर्थराज प्रयागवाले प्रसिद्ध संगममें तो गङ्गा, यमुना आदि हिमालयसे चलकर, कुछ दूर बह कर प्रयागमें संमिलित होती हैं और यहां तो ब्रह्मस्वरूपमेंसे ही इन्हें अपने प्रवाहको प्रारम्भ करना होता है, प्रारम्भ होकर बहना भी उसीमें होता है और बहते बहते अन्तमें मिल जाना भी उसीमें होता है । ऐसा सौन्दर्य, माधुर्य और कल्याणके अटूट एवं अथाह प्रवाहोंको अविरत बहाकर त्रिलोकीको पावन करनेवाली गङ्गा, यमुना तथा सरस्वतीका स्थिर और गम्भीर

संगमरूप जो ब्रह्म, वह मैं ही हूँ। मैं ही सुन्दर हूं और सुन्दर भावनासे सौन्दर्य की उपासना करता हुआ सुन्दर ही बना रहुंगा, मैं ही मधुर हूं और मधुरतामय आचरणसे माधुर्यका आस्वाद लेता हुआ मधुर ही बना रहुंगा तथा कल्याणस्वरूप भी मैं ही हूं और कल्याणमय साधनोंद्वारा कल्याणस्वरूपका अनुभव करता हुआ कल्याणमय ही बना रहुंगा–भूल कर भी कभी असुन्दर, अमधुर या अकल्याणमय न बनुंगा। ३१।

निरतिशयलावण्यं निरतिशयमाधुरम्।
निरतिशयकल्याणं तेषां ब्रह्मास्मि मेलनम्॥३२॥

निरतिशय लावण्यका भण्डार ब्रह्म है, निरतिशय माधुर्य-रसका सरोवर ब्रह्म है और निरतिशय कल्याणका परमधाम भी ब्रह्म ही है-यही नहीं, प्रत्युत् इन सबका संमेलन भी ब्रह्म ही है। जिसके समान भी कोई नहीं है, उससे अधिक की तो बात ही क्या–ऐसा लावण्य, माधुर्य और कल्याणका मिलनरूप जो ब्रह्म, वह मैं हूं।

ब्रह्माण्डरेणवो रोमम्णि यस्यासंख्यातकोटयः।
विवर्तन्ते विलीयन्ते व्योम ब्रह्मास्मि वेष्टनम्॥३३॥

जिसके एक-एक रोममें असंख्यातकोटि ब्रह्माण्ड रजकणोंकी तरह विवृत्त और विलीन हो रहे हैं और जो आकाशकी तरह सबको अपने स्वरुपमें लपेटे हुऐ है, वह महाकाशरूप ब्रह्म मैं हूं।

इससे यह कल्पना न करलेना चाहिये कि "ब्रह्म कोई बड़ा भारी, खूब लम्बा-चौड़ा, मोटा-ताजा देह धारी होगा, जिसके रोममें ब्रह्माण्डरूपी रजकण

घूमते-फिरते होंगे।" सूर्यका प्रकाश कितना व्यापक है; झपाटेके साथ दशों दिशामें व्याप जाता है, परन्तु सूर्यसे भी अधिक व्यापक कोई आकाश है—जिसमें एक सूर्य ही नहीं, अनन्त कोटि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागण, मेघमालायें, विद्युत्-रेखायें आदि चक्कर काटते रहते हैं ऐसे अनन्त आकाश भी जिसके रोमकूपमें अगणितरूपसे भरे पड़े हैं; वह महाकाश ही परब्रह्म परमात्मा है-अर्थात् निरपेक्ष व्यापक तत्त्व स्वरूप ही परब्रह्म परमात्मा है। समस्त ब्रह्माण्डोंकी सुन्दरता सर्व सुन्दर इस परमात्मासे ही प्रकट होती है, ब्रह्माण्डोंके अन्दर जो कुछ मधुरता है- वह भी परममधुर परमात्माकी ही है और जो कुछ कल्याणमयता है-वह भी कल्याण-धाम प्रभुकी ही है। सुन्दरताकी गङ्गांजीका, मधुरताकी यमुनाजीका तथा कल्यामयताकी सरस्वतीका प्रवाह प्रभुके चरणङ्गुष्ठनखमेंसे प्रकट हुआ है—यही नहीं, प्रत्युत सारी सृष्टि-अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भी उस परब्रह्म परमात्माके रोममें रखड़ते फिरते हैं। इन ब्रह्माण्डोकी सुन्दरता और कल्याणमयता ही नहीं, सत्ता भी प्रभुकी सत्तासे ही प्रतीत होती है। ये प्रतीतिमात्र ब्रह्माण्ड भी प्रभुका परिणाम नहीं, विवर्त ही है। सत्य वस्तुके वास्तविक परिवर्तनको परिणाम कहते हैं और अवास्तविक होने पर भी दीख पड़नेवाले परिवर्तनको विवर्त कहते हैं। ये असंख्यात कोटी ब्रह्माण्ड ब्रह्मका ही विवर्त है, ब्रह्ममें ही-ब्रह्मस्वरूपसे ही प्रतीत या प्रकट होते हैं और ब्रह्ममें ही समाजाते है-लीन या अदृश्य होते रहते हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंवाला यह विश्व अपने भावाभावके साक्षी चिन्मात्र अधिष्ठान का बोध कराया करता है। विश्वका दीखना विवर्त है और इस विवर्तको ही माया कहते हैं। वह माया वास्तवमें कोई तत्त्व नहीं। इस अवास्तविक या असत् मायासे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंका काम केवल इतना ही है कि 'जिनकी दृष्टिमें सृष्टि सत्य है,

उनको क्रमशः विश्वकी उत्पत्तिका तत्त्व बतलाते हुऐ प्रकृति तक ले जाना और एकमेवाद्वितीय चित्स्वरुपमें प्रकृतिको असत् बतलाकर एकमात्र सद्वस्तुकी प्रतिष्ठा करना।" असलमें सृष्टि आदि का वर्णन भी केवल अध्यारोपदृष्टिसे अपवादके द्वारा परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कराके उसी स्वरूपमें स्थिर करानेके लिये ही तो है। एक बार आरोप हो जाने पर उसको चाहे जिस प्रकारसे माना जाय, कोई आपत्ति नहीं, केवल इन सबका अपवाद होकर स्वरूपकी उपलब्धि होनी चाहिये। इसी अधिष्ठानभूत निजस्वरूपको पहचाननेके लिये ही सृष्टिक्रमोंका वर्णन है। चाहे किसी क्रमसे पहचाना जाय, पहचानना स्वरूपको ही है। तात्पर्य कि असंख्यात ब्रह्माण्डोंके सहित अनन्त और अगणित आकाशोंको अपने रोममें वेष्टित करके व्यक्त-अव्यक्त करता हुआ भी जो ब्रह्म महाकाशकी तरह निर्लिप्त निर्विकार, निरपेक्ष और निर्विशेष रहता है, वह मैं हूं।३३।

नेतिनेतिनिषिद्धं तत् पिण्डब्रह्माण्डगोचरम्।
बाधावधिर्हि सच्छिष्टं सिद्धं ब्रह्मास्मि बाधकृत्॥३४॥

पिण्ड और ब्रह्माण्डके अन्दर जितनी भी चीजें हैं, सबको 'यह आत्मा नहीं—यह भी ब्रह्म नहीं,' इस प्रकार एक-एक करके निषेध कर डालने पर जो सबके निषेध (बाध) का अवधिभूत होकर शेष रह जाता है और जिसको 'यह आत्मा या ब्रह्म नहीं,' ऐसा नहीं कहा सकता; वह सबके बाधको करनेवाला ब्रह्मात्मा मैं ही तो हूं॥३४॥

गवामनेकरूपत्वे क्षीरस्यत्वेकरूपता।
जगतोऽनेकरूपत्वेऽप्यहं ब्रह्मास्मि चैकलम्॥३५॥

गोमातायें काली, कपिला आदि अनेक रङ्गकी होती हैं, होती रहें; उन

सबका दूध तो एक ही रङ्गका–एक ही रसवाला होता है। दुनियांके रङ्ग–ढङ्ग भी अनेक हों, वह बहुरंगी–बहुरुपी होती हों, पड़ी हों; मुझे क्या मतलब? मैं तो एकरङ्ग, एकरूप, एकरस, केवलब्रह्म हूं।३५।

निराधारमनाधारान्नाथाभावादनाथकम्।
सर्वनाथोऽप्यधिष्ठानं मूलं ब्रह्मास्मि धारकम्॥३६॥

ब्रह्मका कोई आधार न होनेके कारण वह निराधार-निराश्रित है, उसका कोई नाथ न होनेसे वह बिचारा अनाथ भी है; लेकिन असलमें वह निराधार या अनाथ नहीं है। वास्तवमें तो वही सबका आधार (अधिष्ठान) और नाथ भी है। सबका धारण-पोषण करनेवाला होने पर भी वह अपने स्वरूपमें ही मस्त है–अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित है, इस लिये उसको धारण करनेवाला अन्य कोई आधार नहीं, उसका भरण-पोषण करनेवाला अन्य कोई नाथ नहीं है। ऐसा सबका मूल जो ब्रह्म, सो मैं ही तो हूं-मेरी ही तो आत्मा है॥३६॥

जीवेशयोश्च भेदेपि ब्रह्माभेदो हि वास्तवः।
विन्दुसिन्ध्वोर्जलेनेवा–भिंन्नंब्रह्मास्मि निर्द्वयम्॥३७॥

जैसे बिन्दु और सिन्धुका परस्पर भेद होने पर भी जलके साथ दोनोंका अभेद ही है; वैसे जीव और ईश्वरका परस्पर भेद होने पर भी ब्रह्मके साथ दोनोंका अभेद ही वास्तविक है। ऐसा अभिन्न अतएव द्वैत रहित जो ब्रह्म, वह मैं हूं।

सिन्धु अपार है, बिन्दु परिच्छिन्न है। सिन्धुमें मत्स्य आदिक बड़े-बड़े प्राणी रहते हैं, मुक्ता आदिक रत्न होते हैं, जहाज़ आ–जा सकते है, उसके किनारे पर शहर, पहाड़ जंगल, मैदान आदि होते हैं और इसके विपरीत

बिन्दुमें इनका संभव भी नहीं है। सिन्धु किसी महावीर ब्रजरङ्गबली जैसे भगवद्भक्तको छोड़ कर अन्य सबके लिये लांघना अशक्य है, बिन्दु सबके लिये शक्य है। इस प्रकार बिन्दु एवं सिन्धुका परस्पर भेद प्रसिद्ध है—एक बिन्दुको सिन्धु नहीं कह सकते और समस्त सिन्धुको एक बिन्दु नहीं कहा जा सकता, तथापि जलके साथ दोनोंको अभेद भी प्रसिद्ध ही है। बिन्दु भी जल है और सिन्धु भी जल ही है, सुतरा दोनोको जल कहा जा सकता है। इस दृष्टान्तके अनुसार दार्ष्ठान्तमें भी जीव और ईश्वरका भेद होने पर भी ब्रह्मके साथ दोनोंका अभेद ही है। जीव अनेक है, ईश्वर एक है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अल्पशक्ति है, ईश्वर सर्वशक्ति है। जीव पराधीन है, ईश्वर स्वाधीन है। जीव दुःखी है, ईश्वर सुखस्वरूप है। जीव कर्मको कर्ता है और फल भोगता है, ईश्वर जीवकी तरह न कर्म करता है न फल भोगता है, भोगवाता अवश्य है। जीव उपासक है, ईश्वर उपास्य है। जीवमें राग-द्वेष आदि डेरा डाले पड़े हैं और ईश्वर इनसे सब तरह शून्य है। इस प्रकार जीव ईश्वर, दोनोंका एक दूसरेसे भिन्न होना विदित ही है, एक जीवको ईश्वर नहीं समझा जा सकता और सम्पूर्ण ईश्वरको एक जीव नहीं माना जा सकता; तथापि परब्रह्मके साथ दोनोंका अभेद भी सुविदित ही है—जीव भी ब्रह्म है और ईश्वर भी ब्रह्म ही है, सुतरां ब्रह्म दोनोंको माना जा सकता है।

जरा विचार करके देखा जाय, तो जीव और ईश्वरका भेद भी उपाधिकृत ही है, स्वाभाविक नहीं। ईश्वरकी उपाधि माया है और जीवकी अविद्या। ईश्वरकी उपाधि शुद्ध है और जीवकी मलिन। ईश्वर अपनी उपाधि मायाके आधीन नहीं हुआ है, किन्तु माया ईश्वर के आधीन हो रही है और जीव अपनी उपाधि अविद्याके आधीन हो गया है। ईश्वरकी उपाधि महान् है

और जीव की अणु ईश्वर की उपाधि समष्टि है और जीव की व्यष्टि। ईश्वरकी उपाधि एक है और 'जीवकी अनेक। अतः ये एकता-अनेकता, सर्वज्ञता-अल्पज्ञता, सर्वशक्ति-अल्पशक्ति, स्वाधीनता–पराधीनता आदि समस्त भेद भाव उपाधिमें हैं और उपाधिवालोंमें प्रतीत होते हैं। उपाधि दृष्टि छोड़ दी जासके या उपाधिको समूल लीन कर पिया जा सके, तो ईश्वर और जीव, दोनों एक ही है।

जीव और ईश्वरके स्वरुपका विचार किया जाय, तो औपाधिक भेद भी नहीं टिकता, किन्तु अभेद ही स्थिर होता है। अविद्याको माया का एक कण समझना चाहिये। वह अविद्या या अविद्याका कार्य अन्तःकरण, उसमें चेतनकी आभास और शुद्ध चेतन, इन तीनोंकी एकता, भ्रान्तिसे तीनोंको एक मानना ही जीव है, यही व्यावहारिक जीवका स्वरूप है। चेतनके आभासको चिदाभास कहते हैं। चिदाभासका सम्बन्ध चेतन एवं जड़, (अविद्या या अन्तःकरण) दोनोंके साथ है; क्योंकि वह चेतनका आभास है और जड़में पड़ा हुआ है। यह चिदाभास ही चेतनकी दमकको जड़में मिलाता है; जिससे जड़ (अन्तःकरण आदि) चेतन-सा होकर नाना प्रकारकी क्रियायें करने लगता है। चिदाभास स्वयं न तो सर्वथा चेतन है और न सर्वथा जड़ ही है। वह भी अविद्यामें या अविद्याके कार्य अन्तःकरणमें पड़ा हुआ होनेसे अविद्याका ही है। इस प्रकार विचारसे जब चेतन, जड़ और आभास, इन तीनोंका पार्थक्य समझमें आ गया; तब भ्रान्ति निकल गई–भ्रान्तिसे माना हुआ तीनोंका तादात्म्याध्यास (एकत्व) निवृत्त हो गया। भ्रान्ति ही तो अज्ञान या अविद्याथी, भ्रान्तिके साथ अविद्या भी चली गई और अपने कार्य अन्तःकरणको भी लेती गई। जब अन्तःकरण न रहा, तो आभास कहां? अब केवल एकमेवाद्वितीय शुद्ध चेतन रह गया।

भ्रान्तिमें जो जीव था, वही विचारसे भ्रान्तिके समूल निवृत्त हो जाने पर शुद्ध चेतन सिद्ध हुआ। विचार करने पर ईश्वरका स्वरूप भी शुद्ध चेतन ही सिद्ध होता है। अधूरिया जीव पूर्णतम परमेश्वर के स्वरूपको सर्वांश से तो विचार नहीं सकता, एकअंश के ज्ञान से सर्वांशका अनुमान अवश्य लगा सकता है। ईश्वरकी उपाधिके अन्दर ही जीवकी उपाधि है। अविद्यारूपी कणोंके समुदायको माया समझना चाहिये। ईश्वरकी उपाधिरूप माया में सत्त्वगुण प्रधान रहता है। यह माया, मायामें चेतनका आभास और शुद्ध चेतन इन तीनोंका मेल ही ईश्वर है। इन तीनोंको अज्ञानसे एक माननेवाला भी जीव ही है, ईश्वरको अज्ञान नहीं होता। व्यष्टि जीवोंकी समष्टि ही ईश्वर है। जीव यदि अन्नका एक कण है, तो ईश्वर महान् धान्यराशि है। जीवोंके चोरासी लाख योनियोमें या अन्यत्र जितने भी स्थूल शरीर हैं, वे सब मिलकर ईश्वरका स्थूल शरीर हैं। ईश्वरके स्थूल शरीरको विराट् और इसमें अभिमान रखनेवालेको वैश्वानर कहते हैं। सब जीवोंके सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है, इसीको हिरण्यगर्भ तथा इसके अभिमानीको सूत्रात्मा कहते हैं। सब जीवोंके कारण शरीर मिलकर ईश्वर का कारण शरीर है, इसीको अव्याकृत कहते हैं। बीजमें वृक्ष, पत्ते, डालियां, जड़, लकड़ी आदिकी तरह जिसमें व्यक्तिभावकी भिन्नता न हो, उसे अव्याकृत कहते हैं। इस अव्याकृतरूप कारण शरीरके अभिमानीको अन्तर्यामी कहा है। यह अव्याकृत माया ही ईश्वरका देश है, मायाकी उपाधिसे ईश्वर व्यापक है—इस लिये मायाका देश ही ईश्वरका देश है। सृष्टि, स्थिति और लय ही ईश्वरका काल है। सत्व, रजः और तमः ये तीन गुण ही ईश्वरको सृष्टि रचनाके लिये साधन सामग्री हैं। "एकोहं बहु स्याम्" से लेकर जीवरूपसे प्रवेश तक ईश्वरकी क्रिया है। इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको जीव

कुछ-कुछ जान सकता है । ईश्वरका यह स्वरुप भी जीवकी ही दृष्टिसे है । यहां भी ईश्वरके स्वरुपका ज्ञान होने पर अज्ञानरूप माया और आभास नहीं रहते, किन्तु केवल एकमेवाद्वितीय शुद्ध चेतन ही रह जाता है । तात्पर्य कि जीवका शुद्ध स्वरूप चेतनतत्त्व है, ईश्वर भी चेतनतत्त्व ही है । जीवसे लेकर ईश्वर तक सब कुछ एक चेतनतत्त्व है, इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं; तो मैं भी एक, अभिन्न, अद्वय चेतनतत्त्वरूप परब्रह्म ही हूँ ।

इस गहन विषयको समझनेके लिये आकाशका दृष्टान्त विशेष उपयोगी है। आकाश एक होते हुये भी उपाधिके सम्बन्धसे अनेक प्रकारका प्रतीत होता है। यों तो आकाशके गृहाकाश, कूपाकाश आदि बहुत भेद हैं; परन्तु महाकाश मेघाकाश और जलाकाश, ये तीन भेद ही प्रकृतमें उपयोगी हैं, अतः इन्हींक, विचार उपस्थित है । जिसके विशाल उदरमें सूर्य, चन्द्र, बादल आदि अविरत गतिसे घूमा करते हैं और जो बाहर-भीतर, सब जगह समानरूपसे भरा हुआ है; वह व्यापक आकाश ही महाकाश है । जो मेघ (बादल) को अवकाश देता हैं-अर्थात् आकाशके जितने भागमें मेघ रहते हैं या आकाशमें रहे हुए मेघोंसे आकाशका जितना भाग रोका जाता है-वह भाग तथा मेघोंके जलमें पड़ा हुआ आकाशका आभास, ये दोनों मिल कर मेघाकाश हैं । जितने आकाशमें घटको अवकाश दे रखा है या घड़ेने अपनी स्थितिके लिये जितने आकाश कों रोक रखा है, वह (घटके बाहर का आकाश हैं; घट के भीतर का नहीं) और घड़ेमें भरे हुये जलमें जो मेघाकाशका आभास है, ये दोनों मिल कर जलाकाश हैं । आकाशकी तरह चेतन भी एक होते हुये उपाधिके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है । चेतन के ब्रह्म ईश्वर और जीव, इन तीन भेदोंकी आकाशके उपरोक्त तीन भेदोंके साथ समनता है। ब्रह्म महाकाशके समान है ईश्वर मेघाकाशके समान है और

जीव जलाकाशके समान है। समस्त ब्रह्माण्डोंके बाहर भीतर और अन्यत्र भी समाना रूपसे भरपूर भरे हुए शुद्धचेतनरूप व्यापक ब्रह्मको लक्ष्य करने के लिये महाकाश का दृष्टान्त है। इस व्यापक ब्रह्मके एक देशमें माया है। यह शुद्धसत्त्वगुण-प्रधान माया ही ईश्वर की उपाधि है। ब्रह्मचेतनके जितने भागमें मायटिकी हुई है या चेतनमें टिकी हुई मायाने अपनी स्थितिके लिये चेतन ब्रह्मके जितने भागको आवृतकर घेर रखा है, वह माया का आधार या अधिष्ठान रूप ब्रह्म, माया और मायामें चेतन ब्रह्म का आभास, ये तीनो मिलकर ईश्वर है। ईश्वरको समझनेके लिये मेघाकाशका दृष्टान्त है। यह स्थूल शरीर घट है, इसमें अन्तःकरणरूपी जल भरा हुआ है। इसने अपने टिकने के लिये व्यापक ब्रह्मका जितना भाग रोक रखा है, वह भाग अन्तःकरण और अन्तकरणमें पड़ा हुआ चेतन का आभास, ये तीनों मिलकर जीव हैं। इस प्रकार महाकाशरूप व्यापक ब्रह्म का स्वरूप तो शुद्ध चेतन ही है। मेघाकाशरूप ईश्वर के स्वरूपमें माया, मायाका अधिष्ठान चेतन ब्रह्म और मायामें चेतनका आभास, इन तीनोंका समावेश है तथा जलाकाशरूप जीवके स्वरूपमें अन्तःकरण, अन्तःकरण सहित जड़ शरीरका अधिष्ठान ब्रह्म (साक्षी चेतन) और अन्तःकरणमें पड़ा हुआ चेतनका आभास, इन तीनों का समावेश है। उपाधिरूप अन्तःकरण और आभास, दो तो कल्पित हैं और अधिष्ठान ब्रह्म सत् है, यह सत् ब्रह्म ही जीवका वास्तविक स्वरूप है, यही जीवका लक्ष्यार्थ है ईश्वरके स्वरूपमें भी उपाधिरूप माया और आभास कल्पित हैं और अधिष्ठान ब्रह्म सत् है, यह सत् ब्रह्म ही ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है, यही ईश्वरका लक्ष्यार्थ है। ईश्वरकी उपाधि भी जीव की दृष्टिमें ही है, उपाधिके आधीन न होने के कारण ईश्वर में अज्ञान नहीं होता; अतः वह अपनी दृष्टिसे तो उपाधि रहित ही है,

असंग ब्रह्म ही है । सुतरां ब्रह्म, जीव ईश्वर सबके साथ अभिन्न ही है औरवह अभिन्न-अद्वय ब्रह्म मैं ही हूं । ब्रह्म और ईश्वर तो एकमेवद्वितीय शुद्ध चेतन है ही, जीव भी वस्तविक स्वरूपसे शुद्ध चेतन ही ठहरा; अतः तीनो एकही हैं और जीव, ईश्वर, दोनों भी एक ही हैं ।६७।

तापत्रयविहीनोहं पुण्यपापहीनकः
सर्वचिन्ताविमुक्तोहं मुक्त ब्रह्मास्मि मुक्तिदम् ॥३८॥

मैं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभातिक, इन तीनों तापोंसे सर्वथा रहित हूं; । क्योंकि पुण्य और पाप, दोनोंसे भी रहित ही हूं; अतएव सर्व चिन्ताओं से मुक्त हूं-यही नहीं, किन्तु स्वयं सब प्रकारसे मुक्त और सबको मुक्ति देने वाला ब्रह्म भी मैं ही हूं ।३८।

निर्गुणो निष्क्रियोप्यस्मि निष्कलो निरुपाधिकः ।
निर्विकारोऽपि नीरूपः स्वयं ब्रह्मास्मि निष्फलम् ॥३९॥

निष्फल—अर्थात् कर्मफलका अभोक्ता जो ब्रह्म है, वह मैं हूं, अतः निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कल, निरूपाधिक, निर्विकार, नाम रूप रहित भी मैं स्वयं ही हूं इस श्लोकका दूसरा व्यङ्गयार्थ भी हो सकता है—मैं निर्गुण हूं-अर्थात् मुझमें लोकं पयोगी कोई भी गुण नहीं है, मैं निष्क्रिय हूं अर्थात् मैं शास्त्रीय या लौकिक कोई भी क्रिया नहीं करता—कराता या नहीं कर—करा सकता, मैं निष्कल हूं—अर्थात् मैं चौसठ कलाओंमेंसे एक को भी नहीं जानता, मैं तिरुपाधिक हूं—अर्थात् धंधा—रोजगार आदिकी कुछ भी उपाधि मेरे लिये नहीं रही है, मैं निर्विकार हूं- अर्थात् मुझे कोई आलसी, अवारा आदि चाहे कुछ कहता रहे तो भी कुछ विकार नहीं । आता-उसका कुछ भी

असर नहीं होता, मैं निरूप एवं निर्माम भी हूं-अर्थात् न तो मेरे थरीर में कोई आकर्षकरूप ही है और न कुछ नामवरी ही मैने कमाई है। इस प्रकार मैं स्वयं ब्रह्म तो हूं; परन्तु निष्फल अर्थात् ब्रह्मके विशेषण तो सब मुझमें घटते हैं पर मैं इनके फलसे वञ्चित ही हूं। इन विशेषणोंके फलको यत्किंचित् भी प्राप्त करनेका प्रयास करना ही इस व्यञ्जयार्थका तात्पर्य है।३६

सति ज्ञाने भवेन्मोत्तः सति सूर्ये दिनं यथा।
आचार्यकृपयाऽऽप्तं तज्ज्ञानं ब्रह्मास्मि भावनात् ॥४०॥

जैसे सूर्य होने पर ही दिन होता है; वैसे ज्ञान के होने पर ही मोत्त हो सकता है। श्री आचार्य भगवान्की कृपा से वह ज्ञान मुझे मिल रहा है-यही नहीं, प्रत्युत् निर्मल ज्ञान स्वरूप ब्रह्म भी मैं हो रहा हूं।४०।

रागाम्बु संभृतं चित्ते निःसार्यं पणतो यदि।
तत्स्थाने शङ्कराकीर्णे शनैर्ब्रह्मास्मि भावनात् ॥४१॥

एक घड़ेमें जल भरा है और उसमेंसे उसे बाहर निकाल देना है; परन्तु शरत यह है कि "उस घड़ेको न तो हिलाना है, न टेढ़ा या औंधा करना है और न छूना ही है," तो उस घड़ेमें नर्मदाजी के कंकररूपी शङ्करों को एक एक करके डालते जाय ज्यों-ज्यों वे कंकर धीरे-धीरे जलके स्थानको घेरते रहेंगे त्यों-त्यों जल अपही बाहर निकलता जायेगा और अन्तमें उन कंकरो से जब घड़ा भर जायेगा, तब तब जल बाहर निकल जायेगा। इसी प्रकार मनरूपी घटमें रागरूपी जल भरा है, उसमें से उसे निकालनेके लिए भी मनमें परब्रह्म परमात्मा-रूप शङ्करके भाव को भरना होगा। ज्यों-ज्यों 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकारके ब्रह्मभाव से मन भरता जायेगा और धीरे-धीरे वह भाव रागके स्थानको दखल करता

जायगा; त्यों-त्यों राग आप ही मनसे अलग होता जायगा और अन्तमें मनके कौन-कौनमें जब 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना भर जायगी तब राग सर्वथा छूट जायगा ।४१।

वृश्चिकदंशतो ध्यानं यथा स्खलति सत्वरम् ।
मायानिद्रा तथाऽऽदेशात् शुद्धं ब्रह्मास्मि जागृतम् ॥४२॥

जैसे बिछुके दंशसे ध्यान एकदम स्खलित हो जाता है, वैसे ही गुरु-महाराजके 'तत्त्वमसि' रूपी आदेशसे मेरी माया (अज्ञानरूपी) निद्रा एकदम उड़ गई और मैं सदा जाग्रत शुद्ध ब्रह्म हो गया ।४२।

ज्ञातव्यमधुना ज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ।
धन्योस्मि कृतकृत्योस्मि ज्ञातं ब्रह्मास्मि महाद्भुतम् ॥४३॥

मैंने जिसे जानना चाहिये था, जान लिया । जिस अद्भुत दृश्यके दर्शन करने थे, मुझे गुरुकृपासे हो गये । अब मैं धन्य हूं, कृतकृत्य हूं; क्योंकि उस ज्ञात या दृष्टरूप महान एवं अद्भुत ब्रह्मको मैंने 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अभेदभावसे जान लिया है । ४३ ।

अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलो गुरुः ।
अद्य मे सफलो योगः अद्य ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥ ४४ ॥

आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे गुरुदेव का परिश्रम भी सफल हुआ और आज मेरा कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग भी सफल हो चुका; क्यों कि आज मैं सर्वथा ब्रह्म हूं । ४४ ।

रेचकपूरककुम्भाद्यः पिङ्गलेडासमन्वितः ।
साङ्गोपाङ्गोऽफलद्योगः कृते ब्रह्मास्मि भावने ॥ ४५ ॥

'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी भावना कर लेने पर इडा, पींगला और सुषुम्णा सहित–रेचक, पूरक और कुम्भक आदिक अष्टांगयोग भी सांगोपांग सफल हो गया । ४५ ।

कल्पनातीतसाम्राज्यं कल्पनातीतसाधनम् ।
कल्पनां त्यजता प्राप्तं मया ब्रह्मास्मि कल्पनात् ॥४६॥

मैंने 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी कल्पना करते ही जो ब्रह्मानन्द के यौवन का साम्राज्य प्राप्त कर लिया है, इसकी कल्पना भी किसीको नहीं हो सकती । अरे, इसके साधन तक कल्पनातीत हैं और मैं भी कल्पना (संकल्प-विकल्प) का त्याग करके ही इसे प्राप्त कर सका हूं । ४६ ।

संसारः सकलः स्रस्तः पक्वं पत्रमिवाक्रमात् ।
असंभवोऽङ्कुरस्यापि वन्ध्यं ब्रह्मास्मि निष्फलम् ॥४७॥

जैसे पतझड़ के समय वृक्षों के पत्ते बिना ही क्रम से पटा–पट गिरकर ढेर हो जाते हैं, वैसे ज्ञान के समय मेरा समस्त संसारभाव जड़ गया और ऐसा जड़ा कि फिर अंकुर फूटने की संभावना भी न रह गई । अब फल, पत्ते, अङ्कुर आदिसे सर्वथा रहित वन्ध्य ब्रह्म मैं रह गया हूं ।४७।

गान्धर्वे पुर उत्सन्ने का मे हानिः प्रजायते ।
तथाऽस्मदीयसंसार स्थाणु ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥४८॥

गन्धर्व नगर एकबार नहीं, अनेकबार उजड़ जाय; तो इससे क्या मेरी कुछ हानि हो सकती है ? नहीं, कभी नहीं । ठीक वैसे ही मेरे (मैंने अपना समझ

रखे हुऐ) संसारके अनेक दफ़ा उजड़ जाने पर भी मेरी लेशमात्र हानि नहीं हो सकती: क्योंकि मैं तो इन उजड़ने-बसनेका अधिष्ठान और सर्वथा निर्विकार ब्रह्म ही हूं ।४८।

विगतान्नानुशोचामि चिन्ताम्यनागतान्नहि ।
सम्प्राप्तान्नाभिनन्दामि कुर्वे ब्रह्मास्मि भावनम् ॥४९॥

मैं गये हुओंका शोक नहीं करता, आनेवालोंकी चिन्ता नहीं करता और उपस्थितोंका अभिनन्दन या अनुमोदन भी नहीं करता। मैं तो शोक, चिन्ता और अभिनन्दन आदि सबको छोड़ कर केवल 'ब्रह्मास्मि' की भावना करनेमें लग हुआ हूं ।४९।

अश्वमेधादिकैः पुण्यैर्न लुब्धोऽमुपस्थितैः ।
पापैर्लिप्ये कथंकारं सक्तो ब्रह्मास्मि चिन्तने ॥५०॥

मैं 'ब्रह्मास्मि' के चिन्तनमें ही आसक्त हूं, इसीमें लगा हुआ हूं। मुझे सुखमें आसक्ति नहीं, सुख भोगनेका अवकाश भी नहीं। अश्वमेधादिक पुण्यका फल सुखरूपसे भोग देनेके लिये मेरे सामने उपस्थित हो, तो भी मैं उसमें लोभायमान नहीं हो सकता, तो फिर किस पापके फल दुःखसे लोपायमान कैसे हो सकता हूं? किसी तरह भी नहीं। तात्पर्य यह कि जो सुखका त्याग कर सकता है, यह दुःखको भी जवाब दे सकता है; मीठे-मीटे सुखको 'गप्प करनेवाला कड़वे-कड़वे दुःखको 'थू' नहीं कह सकता। जिसने सुखभोगकी आशा नहीं रखी है, वह दुःखभोगसे दूर रह सका है ।५०।

आनन्द ईदृशोऽवाप्तो न ह्रीयते न लुप्यते।
आच्छिद्यते न केनापि सुखं ब्रह्मास्मि चिन्तनात् ॥५१॥

मैंने चैनसे 'ब्रह्मास्मि' का चिन्तन करते-करते ऐसा आनन्द पा लिया है; जो न लुप्त हो सकता हैं, न खोया या चुराया जा सकता है और न कोई जबरदस्त भी उसे छीन ही सकता है ।५१।

भूमेरंशत्रये क्षुद्रः क्षुब्धः क्षारश्च सागरः।
हृद्यस्तु मे विपर्यस्तः सुखं ब्रह्मास्मि भावनात् ॥५२॥

आरामसे एकान्तमें बैठे-बैठे मैंने 'ब्रह्मास्मि' की भावनाकी तो मेरे हृदयमें ब्रह्मानन्दका महासागर उमड़ आया, जो बाहरके सागरसे सब तरह विपरीत है। बाहरका सागर तो भूगोल (पृथ्वी) के तीन ही भागमें होनेसे क्षुद्र (छोटा-सा) है और हृदयके अन्तरका महासागर तो त्रिलोकव्यापी होनेसे अतिमहान है, बाहरका तो क्षुब्ध है और अन्दरका स्थिर-गम्भीर, बाहरका तो खारा है और अन्दरका अमृतसे अधिकान, बाहरका तो सागर है-राजा सागरके नत्रोंद्वारा खोदा गया है और अन्दरका स्वयंभू-अकृत्रिम ।५२।

स्वरूपानन्दतृप्तस्य विषयैः किं प्रयोजनम्।
सुधातृप्तस्य किं मद्यैस्तृप्तं ब्रह्मास्मि तर्पकम् ॥५३॥

जो अमृतदानमें छक है, उसे शराबसे क्या मतलब ? मैं स्वरूपानन्दमें तृप्त हूं, मुझे विषयोंसे क्या वास्ता ? अमृत पीनेवालेको शराब पीनेकी जरूरत नहीं होती, स्वरूपानन्दमें मग्न हुऐ मुझको विषयोंकी आवश्यकता ही नहीं। जिसे अमृत पीनेको मिल गया, वह शराबसे मुख क्यों बिगाड़ने लगा ? मुझे स्वरूपानन्दसे

तृप्ति हो गई, मैं विषयकी विष्ठाका कीड़ा क्यों बनूं ? अरे, मैं तो स्वयं सदातृप्त और सबको तृप्त करनेवाला ब्रह्म हूं ।५३।

नित्यतृप्तस्य मे तृप्तिर्दग्धस्य दहनं यथा ।
नित्यमुक्तस्य मे मुक्तिर्मुक्तं ब्रह्मास्मि मुक्तिदम् ॥५४॥

मैं नित्य तृप्त हूं, नित्य मुक्त हूं। मेरी तृप्ति, मेरी मुक्ति, वैसी ही है; जैसा जले हुएका जलाना। जो जल कर भस्म हो चुका है, उसे और क्या जलाया जायगा ? वैसे नित्यतृप्त, नित्यमुक्त मेरी और तृप्ति और मुक्ति क्या होगी ? मैं तो वह ब्रह्म हूं, जो स्वयं सदा तृप्त है, नित्य मुक्त है एवं सबको तृप्ति और मुक्ति देनेवाला भी है ।५४।

संसारसाधने वृद्धे मोहो मूढस्य वर्धते ।
विवेकिनस्तु वैराग्यं गम्यं ब्रह्मास्मि सज्जने ॥५५॥

संसारके साधन धन-धान्य, राज-पाट, पुत्र-कलत्रादिकोंकी ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है; त्यों-त्यों मूढ़ मनुष्यका तो मोह भी बढ़ता ही जाता है और विवेकी (विचारवान्) मनुष्यका वैराग्य ही बढ़ता है कि "सज्जन पुरुषोंद्वारा 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अभेदभाव से प्राप्त करने योग्य ब्रह्मात्माका चिन्तन छोड़ करके इन अनात्म पदार्थों की चिन्तामें जीवन का अमूल्य समय अधिक बरबाद करना पड़ेगा।" ।५५।

योगचिन्ता तदा दग्धा क्षेमचिन्ता मृता तदा ।
योगक्षेमस्य सर्वेषां ध्यातं ब्रह्मास्मि वाहकम् ॥५६॥

सबके योग-क्षेमको वहन करनेवाले परब्रह्म परमात्माका 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अभेदभावसे जब मैंने ध्यान किया तो मेरे योगक्षेमकी चिन्ता न मालूम यों जल मरी और उसकी राख भी हाथ न लगी ।५६।

सुखं स्वपिमि जागर्मि सुखं भुञ्जे च भोजये ।
एवं सुखमयः कृत्स्नः सुखं ब्रह्मास्मि चाधुना ॥५७॥

अब मैं सुखपूर्वक 'ब्रह्मास्मि' का ध्यान करता हुआ सुख-चैनसे ही सोता हूं, जागता भी सुखसे ही हूं और खाता-खिलाता भी सुखसे ही हूं। इस प्रकार मैं सारा-का-सारा सुखमय हो रहा हूं ।५७।

मुक्तभीर्मुक्तक्रोधोहं मुक्तेहो मुक्तमत्सरः ।
मुक्ताहम्भावनः साक्षान्मुक्तं ब्रह्मास्मि निश्चलम् ॥५८॥

भय, क्रोध, इच्छा, ईर्षा और अहंभावना, इस सब मलीनताओं से म कतई मुक्त हो चुका हूं; क्योंकि सबसे मुक्त और किसीसे भी चलायमान न हो सकनेवाला ब्रह्म साक्षात् मैं हो गया हूं ।५८।

ज्ञानप्राप्तिर्न मे धर्मो न कर्तव्यं न साधनम् ।
किन्तु शुद्धस्वभावस्तज्ज्ञानं ब्रह्मास्मि निर्मलम् ॥५९॥

ज्ञान प्राप्त करना मेरे लिये न तो धर्म है, न कर्तव्य है और न साधन ही है; किन्तु वह (ज्ञान) तो मेरा शुद्ध स्वभाव ही है; क्योंकि मैं निर्मल ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हूं ।५९।

निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः ।
लोके वर्तें निरिच्छोपि पूर्णं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम् ॥६०॥

मैंने दुनियामें जो कुछ करना था; कर लिया और जो कुछ पाना था, पा लिया । अब न कुछ करनेकी इच्छा है और न कुछ पानेकी ही । तथापि

मैं लोकसंग्रहके निमित्त शुभव्यवहारमें लथ-पथ रहता हूं, घड़ी भरके भी आलस्यको अवकाश नहीं देता । तभी तो पूर्ण एवं निष्क्रिय ब्रह्म हो सका हूं ।६०।

आत्मवत्सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेव पश्यामि व्याप्तं ब्रह्मास्मि निर्भयम् ॥६१॥

मैं सब भूतोंको अपने समान देखता हूं और पराये धनको रोड़ेके समान समझता हूं । मैं स्वभावसे ही ऐसा समझता हूं, भय आदिसे नहीं, क्योंकि भय आदिसे रहित और सबमें समानरूपसे व्याप्त ब्रह्म मैं हूं ।६१।

मनो मे लीयतेऽपारे सैन्धवं सलिले यथा ।
शान्ते स्फटिकसंकाशे ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६२॥

मेरा मन स्फटिकके समान शुद्ध, शान्त और अपार ब्रह्ममें लीन हो रहा है, मानो जलमें नमक पिघल रहा हो; इसीलिये तो कह रहा हूं कि मैं सब प्रकारसे ब्रह्म हूं ।६२।

मग्नोन्मग्नोस्मि निःसीम्नि परमानन्दसागरे ।
मानसे हिमखण्डो वा ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६३॥

मानसरोवरमें बरफके टुकड़ेकी तरह मैं असीम परमानन्द सागरमें डूबता-उतराता, तैरता-पिघलता, घुल-मिल रहा हूं; तभी तो कहता हूं कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६३।

दृष्टिः स्थिरा विना दृश्यं प्राणाः स्थिरा विना यमम् ।
वृत्तिः स्थिरा विनाऽऽलम्बं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६४॥

दृश्यके विना ही दृष्टि स्थिर हो रही है, यम, नियम, प्राणायाम आदिके

विना ही प्राण स्थिर हैं और आलम्बनके विना ही वृत्ति भी स्थिर हो जाती है; तो क्यों न कहूं कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६४।

अन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या अनुभवाम्यनन्तरम् ।
सच्चिदानन्दसन्दोहं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६५॥

मेरी वृत्ति अन्तर्मुख हो चाहे बहिर्मुख; मैं इसके द्वारा अन्दर-बाहर सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्मके सन्दोहका ही निरन्तर अनुभव करता रहता हूं; अतः छाती फुलाकर कह सकता हूं कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६५।

श्मशानं नन्दनं जातं लोष्टं च काञ्चनायते ।
विश्वं ब्रह्ममयं भाति ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६६॥

मेरी नज़रोंमें श्मशान भी नन्दनवन बन गया है, लोष्ट (ढेला या रोड़ा) भी काञ्चन हो रहा है और सारा संसार ही ब्रह्ममय भास रहा है; इसीलिये बोलता हूं कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६६।

पुरुषोस्मीति मे भानं विधात्रापि न वार्यते ।
ब्रह्मास्मीत्यपि चैकान्तं ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६७॥

मुझे अपने पुरुषत्व (मर्द होने) का पक्का भान है, इसे विधाता भी नहीं मिटा सकते-सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी साक्षात् आकर चारों मुखसे मुझे कहे कि 'तू पुरुष नहीं, स्त्री है', तो भी अपनेको स्त्री नहीं मान सकता-नहीं समझ सकता। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूं' इस मेरे दृढ़ निश्चयको कोई भी नहीं फिरा सकता; इसीसे तो बकता हूं कि मैं सब तरह ब्रह्म हूं ।६७।

ब्रह्मज्ञानोपनेत्रेण युक्ते यातो यतो दृशौ ।
ब्रह्मेव पश्यतस्तत्र ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६८॥

मैंने अपने दोनों आँखों पे ब्रह्मज्ञानके चश्मे चढ़ा रखे हैं, अब ये जहां जाती है; वहां ब्रह्म-ही-ब्रह्मका दिदार करती हैं; अतः कहना पड़ता है कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६८।

मन्दिरं सकल विश्वं वस्तुमात्रं तु मूर्तयः ।
सेवाः सर्वाः क्रिया जाता ब्रुवे ब्रह्मास्मि सर्वथा ॥६९॥

सारी दुनियाँ मेरे लिये भगवानका मन्दिर बन गई है, दुनियाँकी सभी चीजें भगवानकी मूर्तियाँ बन गई है और मेरी समस्त क्रियायें भगवानकी सेवा बन गई हैं; अत एव बोलता हूं कि मैं सर्वथा ब्रह्म हूं ।६६।

स्वभावादेव जायन्ते मत्तः क्रियाः शुभा हिताः ।
साधनबुद्ध्यभावेपि ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥७०॥

कर्म ज्ञानका साधन है, ऐसी बुद्धि पहले थी, परन्तु अब उसका अभाव हो गया है, तो भी मुझसे शुभ एवं हितकर कर्म होते ही रहते हैं; क्योंकि ऐसा करनेकी आदत पड़ गई है । अब कर्म न करूं तो कुछ भय नहीं है और करनेका लोभ भी नहीं है,-परन्तु प्रथम साधन समझकर शुभ एवं निष्काम कर्म करता रहा-बहुत समय करते-करते स्वभाव पड़ गया और अब स्वभाविक ही ऐसा होता रहता है । इससे निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म हूं । ७० ।

कर्माणि कुर्वतोऽपेक्षा नोपेक्षा न तटस्थता ।
अथ वर्ते यथाशास्त्रं ततो ब्रह्मास्मि निश्चतम् ॥७१॥

कर्म तो मैं करता ही रहता हूं ; किन्तु कर्म करनेकी अपेक्षा नहीं है, करनेसे उपेक्षा भी नहीं है और न तटस्थता ही है । फिर भी मुझसे शास्त्रा-

नुसारी वर्तन अनायास ही होता रहता है इससे निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म हूं । ७२ ।

न त्यजामि न वाञ्छामि लौकिकीं वैदिकीं क्रियाम् ।
यथारब्धं तु तिष्ठामि ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥७२॥

मैं न तो लौकिक कर्मोंको छोड़ बैठा हूं और न वैदिक क्रियाओं की ताक लगाये हुऐ ही हूं, अथवा न तो मैंने शास्त्रीय कर्मोंको तिलांजलि दे रखी है और न लौकिक कर्मोंके फेरमें ही फंसा हुआ हूं, किन्तु प्रारब्धके चक्रमें घूमता हूं–अर्थात् लौकिक या वैदिक आदि जो–जो कर्म देश–कालानुसार हो जाते हैं, उन सबका करानेवाला प्रारब्ध ही है, प्रारब्धानुसार परमेश्वर ही है, इस निष्ठा के द्वारा अपने आपको कर्तृत्वाभिमानसे बचाये रहता हूं इससे निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म हूं ।७२।

न च मे जीवनाशास्ति मरणाशापि मे न च ।
कुकर्माशेव भक्तस्य ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥७३॥

जैसे भगवान्‌के परम भक्तजनको कुकर्म करनेकी अभिलाषा स्वप्नमें भी नहीं हो सकती, वैसे मुझको भी न तो जीवनकी अभिलाषा है और न मरण या आत्मघातकी ही । जीवन–मरण आदि तो प्रारब्धाधीन ही हैं । अतः निश्चय हुआ कि मैं ब्रह्म हूं ।७३।

नापदि ग्लानिमायामि सम्पदि न प्रसन्नताम् ।
सदा समरसः स्वस्थस्ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥७४॥

आपदाके आधमकने पर–धर दबाने पर मैं नाराज होकर–घराभरकर बावला नहीं बन बैठता और सम्पदाकी प्रसन्नतामें फूल कर कुप्पा नहीं हो जाता; किन्तु

विपत्तिके घेरे और सम्पत्तिके फेरे आदि सब अवस्थामें समरस और स्वस्थ-स्वरूपस्थ रह सकता हूं; तो निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म हूं जीवन्मुक्त हूं ।७४।

मेघो मुञ्चतु वज्राणि द्रवन्तु चाद्रयो द्रवम् ।
आभ्यां न मे क्षतिः काचित्ततो ब्रह्मास्मि निश्चितम् ॥७५॥

मेघाधिष्ठात्री देवता भले वज्रोंकी मुसलाधार वृष्टि करे और पर्वताधिष्ठात्री देवता भले ज्वालामुखी पहाड़ोंके शिखरविवरोंसे बल--बलते प्रवाही पदार्थके पूरको बहावें, इनसे मेरी-मेरे अछेद्य, अदाह्य आत्मस्वरूपकी कुछ भी हानि नहीं हो सकती। जब ऐसी दृढ़ निष्ठा होने लगती है, तब निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म हो गया हूं-जीवन्मुक्त हो रहा हूं ।७५।

आकर्णयामि जिघ्रामि स्पृशामि च विलोकये ।
भावये ब्रह्म तत्सर्वं तदा ब्रह्मास्मि भासते ॥७६॥

मैं जो कुछ भी करता हूं-सुनता हूं, सूंघता हूं, छूता हूं, देखता या विचारता हूं, सबमें ब्रह्मभाव ही करता रहता हूं। तो ऐसा करते-करते ऐसा भान होने लगता है कि मैं भी ब्रह्म ही हूं ।७६।

श्रुत्वा ध्यात्वा च मत्वा च ज्ञात्वा भुक्त्वा रसास्पदम् ।
आकण्ठं परितृप्तोस्मि शपे ब्रह्मास्मि निर्गुणम् ॥७७॥

ब्रह्म निर्गुण होने पर भी रसका सागर या रसरूप ही है। मैंने उसमें गोता लगानेकी चाहसे प्रथम तो उसका श्रवण किया, फिर अन्तर्मुख होकर मनन और ध्यान किया, बादमें उसका ज्ञान हुआ और अन्तमें उस रसास्पदका भोग

हुआ-अर्थात् 'मैं ही वह रसास्पद ब्रह्म हूं' ऐसा अभेदानुभव हुआ, तो मैं कण्ठतक तृप्त हो गया-यह मैं शपथ करके कहता हूं ।७७।

सुधापानं मया पीतं मया भुक्तं ततोऽधिकम् ।
तुष्टोस्मि परितृप्तोस्मि भृशं ब्रह्मास्मि चामृतात् ॥७८॥

'ब्रह्मास्मि' की भावना करते-करते मुझे ऐसा प्रतीत होता जा रहा है कि "मैंने अमृतका पानकर लिया है; अरे, इससे भी कहीं अधिक स्वादिष्ट और गुणकारी कोई विलक्षण वस्तुका अभेद भावसे भोग कर लिया हैं।" अब मैं सन्तुष्ट हूं, सन्तृप्त हूं और इस सन्तोष-इस सन्तर्पणकी मस्तीमें किलोल करता हूं कि अमृतसे भी विशेष मधुर जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूं ।७८।

स्फुरति नैव भोगेच्छा भोक्तृभावोपि नैव च ।
स्फुरत्येकं परं तत्त्वं यदा ब्रह्मास्मि भावये ॥७९॥

जब 'ब्रह्मास्मि' की भावना करने लगता हूं, तो 'मैं भोक्ता हूं' इस बातका भान भी नहीं रह जाता और न भोगकी इच्छा ही स्फुरित होने पाती है। हाँ, एक अद्वय परमतत्त्व अवश्य स्फुरित होता रहता है, फिर किलोलमें कसर ही क्या? ।७९।

सिद्धयो भान्ति मे तुच्छा ब्रह्मलोकादिकं तथा ।
पूर्णवैराग्यपूर्णोहं पूर्णं ब्रह्मास्मि निर्मदम् ॥८०॥

ब्रह्मलोकादिककी प्राप्ति तथा अणिमादिक सिद्धियाँ मुझे तो तुच्छ ही लगती है। मैं तो पूर्ण वैराग्यसे परिपूर्ण हो गया हूं, या यों कहिये कि सर्वत्र परिपूर्ण और वैराग्यके मदसे सर्वथा रहित ब्रह्म ही हूं ।८०।

भिद्रन्तु योगिनः सूर्यं कर्मठा यान्तु वै दिवम् ।
साधकाः सिद्धिमाप्ताः स्युर्मया ब्रह्मास्मि चिन्त्यते ॥८१॥

योगिलोग सूर्यमण्डलका भेदन कर सकें, करलें । कर्मठलोग स्वर्गमें सिधार सकें, भले पधारें । साधकलोग सिद्धियोंको पा सकें, खुशीसे पा लें । अपने राम तो इन झंझटोंकी अपेक्षा 'ब्रह्मास्मि' के चिन्तनमें मशगुल रहना ही पसन्द करते हैं ।८१।

सर्वोपाधिसमुत्सृष्टः सर्वव्याधिविवर्जितः ।
सकलाधिविनिर्मुक्तो युक्तं ब्रह्मास्मि धारणे ॥८२॥

सब उपाधियोंने मुझे नालायक समझकर मेरा त्याग कर रखा है, सब व्याधियोंने मुझे अस्पृश्य समझकर वर्जित करार दे रखा है और सभी आधियाँ मुझे एकदम अकेला छोड़कर भाग खड़ी हुई हैं । ठीक तो है; 'ब्रह्मास्मि' की धारण हो जाने पर ऐसा होना भी तो चाहिये ।८२।

अहन्तापहृताचोरैर्ममता मारिता तथा ।
भीताऽविद्या गता क्वापि शिष्टं ब्रह्मास्मि शाश्वतम् ॥८३॥

एक दिन मेरे हृदयमन्दिरमें कोई गेबी चोर घुस आये । पिढी दर-पिढीसे आराध्य मेरे हृदयमन्दिरकी देवी अहन्ताको उन चोरोंने चुरा लिया, पुजारिन ममता बीचमें पड़ी तो उसे उन्होंने मार डाला और अविद्या बेचारी डरके मारे न जाने कहां भाग बसी, न मालूम कहां लुक-छिप गई, बहुत कुछ तलाश करने पर भी कहीं पता नहीं चलता । अब मैं अकेला शाश्वत ब्रह्म रूपसे बच रहा हूं, जिसे चुरानेवाले खुद चुराये जाते हैं ।८३।

आत्मघाते हि गर्वस्य भ्रान्तिर्भूता सती सह ।
सम्बन्धिनोपि तच्छोकात् कुर्या ब्रह्मास्मि वेदनम् ॥८४॥

जब मैं 'ब्रह्मास्मि' का विचार करने लगा, तो गर्वने तकाजा किया कि "यह क्या, जहां हम हैं वहां विचारका क्या काम ? यह तो हमारा सरासर अपमान है।" मैंने इस तकाजेकी तरफ दुर्लक्ष्य किया और उसकी साध्वी पत्नी भ्रान्ति भी उसके साथ सती हो कर चितारोहण कर गई। काम, क्रोध आदिक अन्य जितने भी उन दोनोंके सगे-सम्बन्धी थे, वे भी सब-के सब उन दोनोंके शोकानलमें सता हो मरे। अब मैं उस पहाड़की तरह पसरा पड़ा हूं, जिसके उपरका जंगल दावानलसे दग्ध हो चुका हो।८४।

आसक्तिर्विपरीताऽद्य विपरीता च वासना ।
विपरीताऽऽसुरीसम्पत्सुहृद्ब्रह्मास्मि संस्थितम् ॥८५॥

आज मेरी आसक्ति मुझसे विपरीत हो बैठी है, सुक्ष्म वासना भी विपरीत हो चुकी है, अरे, सारी-की-सारी आसुरी सम्पत् भी विरोध पक्षमें जा मिली है। और भी कोई इनके साथी रह गये हों, तो वे भी भले विपरीत हो जाँय, परन्तु मैं तो सबका सुहृद्, सदाका साथी, जो कभी विपरीत होना जानता ही नहीं, प्रत्युत् हरजगह-हर हालतमें अनुकूल-ही-अनुकूल बना रहनेवाला ब्रह्म ही हूं।८५।

स्वतो निन्दाकृतादेपो गर्विगुणबहिष्कृतः ।
दोषादोषाभिशप्तोहं मत्वा ब्रह्मास्मि निर्गुणम् ॥८६॥

मैं ब्रह्म तो हूं, परन्तु निर्गुण। मुझ निर्गुणको गुणहीन मान कर सब नफरत करने लग पड़े। और की तो बात ही क्या ? जो स्वयं निन्दा है, उसने

ही मेरी (मुझ निर्गुणकी) निन्दा करने का ठेका ही ले रखा है। और गुण, वे तो गर्विष्ठ ही ठहरे, कब सबर कर सकते थे, झट मेरे बहिष्कारका बीड़ा झड़प बैठे। बाकी रहे दोष, वे बिचारे दोषा (रात्रि) ही निकले, अपने अन्धेरेमें मुझे शाप दे गये कि इस निर्गुण निठल्लेका मुँह कौन देखे।८६।

मुमुक्षां मत्समीपस्थां दृष्टवत्या बुभुक्षया।
कृतः सम्बन्धविच्छेदः स्निग्धं ब्रह्मास्मि पूर्ववत् ॥८७॥

बुभुक्षा (भोगेच्छा) तो मुद्दतोंसे मेरे पास थी ही, अब थोड़े दिनोंसे—जबसे सन्त महात्माओंकी कृपा हुई है तबसे—मुमुक्षा (मोक्षेच्छा) भी कभी-कभी आ जाया करती है। एक दिन मेरी बुभुक्षाने मुमुक्षाको मेरे पास बैठे हुऐ देख लिया। बस, फिर क्या था ? लगी गरजने, बरषी भी खूब। सुना तो यही था कि जो गरजता है, सो बरषता नहीं, परन्तु मेरी बुमुक्षाके विषयमें यह सत्य न हो सका। मैंने इसे अपवाद मान लेनेकी कोशिस की, भला कोई अपनी बहिन बेटियोंके पास बैठा भी न करे ? लेकिन इतनेसे गनीमत कहाँ ? बुभुक्षा तो बिल्कुल बिगड़ बैठी, एकदन उखड़ उठी और उसने मुझसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, अरे, मुझे तलाक देही तो डाला। तरक्कीका जमाना जो हुआ। अस्तु, मैं तो मुमुक्षाके सहवाससे ब्रह्म हो रहा हूं और ब्रह्म स्निग्ध है—अकारण ही सब पे स्नेह करनेका ब्रह्मका स्वभाव है, अतः मैं भी बुभुक्षाको प्रथम की ही भाँति स्नेहसे चाहता हूं, परन्तु वह आती ही नहीं, आना चाहती भी नहीं, उसे तो मेरा मुख देखना भी नहीं सुहाता—इस लिये कभी कहीं मिलती ही नहीं। किसीको मिले, तो कह देना कि "तुम्हें किसीने निकाला नहीं है, बुरा मत मानो, ऐंठ छोड़ दो, आना चाहो—आ जाओ, ब्रह्मद्वार किसीके

लिये बन्ध थोड़े ही हुआ है, जो तुम्हारे लिये हो जायगा ? अरे हाँ, शरत एक है और वह वह कि तुम्हें (बुभुक्षाको) रहना होगा मुमुक्षाके अनुकुल होकर ही ।" ।८७।

देहो देवालयो दिव्यो जीवो हि सुन्दरः शिवः ।
कैलासो हि गृहं साक्षादिति ब्रह्मास्मि भावये ॥८८॥

मैं भी मुमुक्षाके अनुकुल होकर " देह ही दिव्य देवालय है, जीव ही सुन्दर शिव है और घर ही साक्षात् कैलास है " इस प्रकार ब्रह्मास्मिकी भावना करता रहता हूं ।८८।

तर्कैर्युद्धैश्छलैर्मन्त्रैः सामादिभिश्च भैषजं ।
सुक्षेयं तदजेयं यन्नित्यं ब्रह्मास्मि भावनात् ॥८९॥

तर्क, युद्ध, छल-कपट, मन्त्र-तन्त्र, औषध-जडी-बूटी और साम-दाम-दण्ड-भेद आदि उपायोंसे जिस अज्ञानको जीत लेना भी अशक्य था, उसी अज्ञानको नित्य की गई 'ब्रह्मास्मि' की भावनाके प्रतापसे अत्यन्त क्षीण कर डालना भी शक्य एवं सहज हो गया है ।८९।

ब्रह्मास्म्येव परं तीर्थं ब्रह्मास्म्येव परं तपः ।
ब्रह्मास्म्येव परं ध्यानं कुर्वन्ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥९०॥

'ब्रह्मास्मि' ही--अर्थात् मैं ब्रह्म हूं-इस प्रकारकी भावना करना ही परम तीर्थ है, परम तप है और परम ध्यान भी है । ऐसे तीर्थ, तप और ध्यानको करते-करते मैं सर्वतोभावेन ब्रह्म हो गया हूं ।९०।

मन्दिरे मस्जिदे चर्चे सर्वत्र समवस्थितम् ।
पक्षपातैरसंस्पृष्टं समं ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥९१॥

मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि सब स्थानोमें समान भावसे वर्तमान और पक्षपातसे सर्वथा रहित, जो सम एवं सर्व व्यापक ब्रह्म है, वह मेरा ही स्वरूप है ।९१।

ब्रह्मणो मन्दिरं साक्षाद् हृदयं सरलं मृदु ।
वाचापि तत्र नाघातं कुर्वे ब्रह्मास्मि हृद्गतम् ॥९२॥

सबका हृदय कैसा सीधा सादा, भोला-भाला मुलायम और प्रेमल होता है । वही परब्रह्म परमात्माका साक्षात्- प्रत्यक्ष एवं असली मन्दिर है; इसीलिये मैं किसीके भी हृदयको वाणीसे भी चोट नहीं पहुँचाता । सबके हृदयमें समान रूपसे भी बसा हुआ ब्रह्म मैं ही हूं; फिर कैसे किसीको चोट पहुँचाऊं । किसीके उपर आघात करना, सीधा अपने उपर ही वार करना है--अपने ही पैर पै कुल्हाडेका घात करना है ।९२।

लीलामन्दिरमेतर्हि क्लेशभाण्डं जगत्पुरा ।
विनष्टदिग्भ्रमस्येव ज्ञानं ब्रह्मास्मि निर्भ्रमम् ॥९३॥

दिशा-भूल हो जानेसे जो पश्चिम दिशा प्रतीत होती है, वही दिशा-भ्रम मिट जाने पर पूर्व दिशा हो जाती है; ठीक वैसे ही जब तक अज्ञान था, तब तक यह सारी दुनियाँ क्लेशका भाण्ड याने नरककी हण्डी ही प्रतीत होती थी और 'ब्रह्मास्मि' की भावनारूप अहंग्रहोपासनाके प्रभावसे ज्ञान हो जाने एवं

अज्ञान हट जाने पर वही दुनियाँ भगवान्की लीलाका मन्दिर बन गई है और मैं भ्रम रहित ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो रहा हूं ।९३।

सेवितं गुरुवैद्यस्य किञ्चापूर्वं रसायनम् ।
नखशिखमरोगोऽस्मि स्वस्थं ब्रह्मास्मि नीरुजम् ॥९४॥

मैं गुरुरूपी वैद्यके कोई अपूर्व रसायनका सेवन करके नख-शिख नीरोग हो चुका हूं, इसी कारण रोगरहित अत एक स्वस्थ ब्रह्म भी हो सका हूं ।९४।

गलिताः सकलाः शङ्काः फलिताः सद्गुरोः कृपाः ।
मिलिता परमा शान्तिः शान्तं ब्रह्मास्म्यसंशयम् ॥९५॥

श्री गुरुदेवकी कृपा फल गई, मेरी सब शङ्कायें गल गई और मुझे परम शान्ति मिल गई । अब मैं शान्त ब्रह्म हूं-इसमें संशय न रहा ।९५।

मुष्टिबद्धयमस्यापि मृत्युमुष्टिगतस्य च ।
सर्वावस्थासु निर्विघ्नं स्यान्मे ब्रह्मास्मि चिन्तनम् ॥९६॥

मैं यमराजको अपनी मुट्ठीमें दबालू, चाहे खुद मैं ही मृत्युकी मुष्टिमें बँध जाऊं-मौतकी चंगुलमें जा फसू, हर हालतमें मेरा 'ब्रह्मास्मि' चिन्तन निर्विघ्न चलता रहे, बस यही एक अभिलाषा है ।९६।

प्राणापाये विषादो न प्राणलाभे न हर्षणम्
विषादहर्षहीनं यत्समं ब्रह्मास्मि हर्षणम् ॥९७॥

प्राणोंकी हानि हो जाय तो कुछ विषाद नहीं है और प्राणोंका लाभ हो जाय, तो कोई खुशी नहीं हैं, क्योंकि मैं तो विषाद एवं हर्ष दोनोंसे रहित,

सम–जिसमें हर्षका उभरा और विषादका गढ़ा दोनों नहीं है–ऐसा स्वाभाविक हर्षण (प्रसन्नता) रूप जो ब्रह्म, सो मैं हूं ।६७।

न पीडयन्ति रोगा मां न चाकर्षन्ति वासनाः ।
बाधन्ते नैव कर्माणि स्वस्थं ब्रह्मास्मि नीरुजम् ॥९८॥

मुझे न तो रोग हैरान कर पाते हैं, न वासनायें तंग कर सकती है और न कर्म ही बाधा पहुंचा सकते हैं, क्योंकि मैं तो नीरोग अतः एव स्वस्थ-ध्रुव या निर्बाध ब्रह्म हूं ।६८।

अपथ्यं पथ्यमाभाति घोरं सौम्यं कटु प्रियम् ।
अनुकूलं यथार्थं च सौम्यं ब्रह्मास्मि सर्वतः ॥९९॥

मुझे अपथ्य भी पथ्य प्रतीत होता है, घोर भी सुन्दर ही मालूम देता है और कटु भी प्रिय (मधुर) लगता है । अधिक कहां तक कहूं, सब कुछ अनुकूल–ही–अनुकूल एवं यथार्थ–ही-यथार्थ नजर आ रहा है; क्योंकि सब तरह सौम्य अर्थात् पथ्य–ही–पथ्य, सुन्दर–ही–सुन्दर और प्रिय–ही-प्रिय जो ब्रह्म, सो मैं हूं ।६६।

समाधौ ब्रह्म संसुप्तौ व्युत्थाने ब्रह्म जागरे ।
निधने ब्रह्म निर्वाणे सदा ब्रह्मास्मि सर्वदा ॥१००॥

समाधिमें तथा व्युत्थानमें, सुषुप्तिमें तथा जागृतिमें, मरणमें तथा मुक्तिमें सर्वत्र ब्रह्म–ही–ब्रह्म है और मैं भी सब समय एवं सब अवस्थामें ब्रह्म ही हूं ।१००।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यो मूर्च्छामरणजीवनात् ।
नवावस्था परा प्राप्ता परं ब्रह्मास्मि नूतनम् ॥१०१॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरण और जीवन, इन सबसे पर एवं नवीन (कोई अलौकिक) अवस्था मुझे प्राप्त हो रही है, क्योंकि सबसे पर एवं नूतन जो ब्रह्म, वह मैं हो रहा हूं ।

जाग्रत् आदिक अवस्थामें शरीरोंकी ही हुआ करती है. आत्माकी नहीं होती । आत्मा तो अवस्थातीत–सदा स्वस्थ है । देहाभिमानी जीव शरीरके अभिमानवाला-भाववाला होकर शरीरकी जिस स्थितिमें जितने काल तक रहता है, उतने कालकी उस स्थितिको अवस्था कहते हैं । जब जीव स्थूल शरीरके भाववाला होकर स्थूल शरीरमें स्थित रहता है, तब इस स्थूल स्थितिको जाग्रत् अवस्था कहा जाता है; यह स्थूल शरीरकी अवस्था है । जब जीव स्थूल शरीरके अभिमानको छोड़कर सूक्ष्म शरीरके अभिमानवाला होता है और सूक्ष्म शरीरमें स्थित रहता है, तब इस सूक्ष्म स्थितिका नाम स्वप्न-अवस्था होता है, यह स्थूल शरीरमें रहनेवाले सूक्ष्म शरीरकी अवस्था है । जब जीव स्थूल, सूक्ष्म, दोनों शरीरोंके अभिमानसे रहित हो जाता है और कारण शरीरके भाववाला होकर कारण शरीरमें स्थित होता है, तो इस कारण रूपसे होनेवाली स्थितिको सुषुप्ति अवस्था कहा हैं; यह कारण शरीरकी अवस्था है ।

जिस स्थितिमें स्थूल शरीरका भान रहता है; जिसमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना और घ्राण, ये ज्ञानेन्द्रियें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, इन अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने के लिये चेष्टा करती रहती हैं; जिसमें वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, ये कर्मेन्द्रियें बोलना, लेना-देना, चलना–फिरना और

मल-मूत्र का त्याग, इन अपने कर्मों को करती रहती हैं; जिसमें प्राण अन्तःकरण आदि भी विविध चेष्टायें करते रहते हैं; उस स्थिति को जाग्रत-अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था का मुख स्थूल जगत् की तरफ रहता है, यह अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर में होती है; इसमें स्थूल भोग होते हैं; इसमें वैखरी वाणी होती है, जो भीतर से बाहर आती हुई स्थूल या व्यक्त होती रहती है; इसमें जीव विशेष भावसे नेत्र—स्थान में रहता है, इसी लिये आँखें शर्म खाया करती हैं; इसमें क्रिया शक्ति है; इसमें सत्त्वगुण है और इसमें जीवात्मा की संज्ञा 'विश्व' नामसे प्रसिद्ध होती है।

स्थूल प्रवृत्ति से थककर या ऊबकर जब सोने के लिये पड़ जाते हैं, तो स्थूल शरीराभिमान छूटने लगता है और सूक्ष्म शरीराभिमान में स्थित हो लेता है, तो इस स्थिति में अनेक प्रकार के दृश्य दीखने लगते हैं, नाना प्रकार की क्रिया करते हुए—से प्रतीत होते हैं—यही स्थिति स्वप्नावस्था कहलाती है। इस अवस्था में जाग्रत्—अवस्था के अनेक वासनामय संस्कारवाली बुद्धि कर्ता भोक्ता बनती है और आन्तर मुखवाली होने से आन्तर या सूक्ष्म भोगवाली होती है, इसमें कण्ठ के मध्य में रहनेवाली मध्यमा वाणी होती है, इस अवस्था में जीव विशेष भाव करके कण्ठ स्थान में रहता है और वहां विद्यमान 'हिता' नाम नाड़ी में स्वप्न देखता है, इसमें रजोगुण की विशेषता रहती है और इस अवस्था के अभिमानी जीव की तैजस संज्ञा होती है।

धीरे-धीरे स्थूल भाव की तरह सूक्ष्म भाव भी निवृत्त होता है और उसका स्थान कारणभाव से आक्रान्त हो जाता है, तो गहरी नींद आजाती है। उस कारण शरीराभिमानी जीव को कुछ भान नहीं रहता, अपने-पराये का

पता नहीं होता, 'मैं हूं या नहीं' इसकी भी गम नहीं रहती। जाग्रत् और स्वप्न, दोनों अवस्थाओंमें जो बुद्धि काम देती थी, वह अपने कारण अज्ञानमें लीन हो जाती है, मिल जानेके सबब रहती ही नहीं है और जागनेके बाद जागनेवाला "मै बे-खबर सोया था, खूब गहरी और मीठी नींद आगई थी, इसके अतिरिक्त कुछ भी मालूम न था" इस प्रकार जिस स्थितिका ख्याल करके कहता हैं, उस स्थिति का नाम सुषुप्ति-अवस्था है। इस अवस्थाका मुख्य (स्थान) हृदय है, जीव तमोभिभूत हुआ हृदयमें दबा हुआ रहता है, और इसमें पश्यन्ती नाम वाणी है जो सत्तामात्रसे रहती है और स्वरुपसे कुछ कर नहीं सकती, इस अवस्थामें तमोगुणकी प्रधानता होती है और इसके अभिमानी 'प्राज्ञ' संज्ञा होती है।

जाग्रत्-अवस्था दुःख प्रचुर है, त्रिविध ताप एवं अनेक प्रकार के विकारोंसे भरी पड़ी है; रागी, त्यागी आदि सबने इसको दुःख मयत्वका ही प्रमाणपत्र दिया है—ऐसा विचार या निश्चय करके इस अवस्था तथा इस अवस्थाके पदार्थोंमेंसे आसक्ति को शिथिल करना और वैराग्यको दृढ़ बनाना ही इस जाग्रत् अवस्थाके परिचयका फल है। सद्गुरुका उपदेश इसी अवस्था में मिल सकता है, शास्त्रानुमोदित अनुष्ठान भी इसीमें ही हों सकते हैं, कर्म, उपासना, ज्ञान, श्रवण, मनन आदि द्वारा मल, विक्षेव, आवरण. असम्भावना, विपरीतभावना आदिकी निवृत्ति भी इसी अवस्थामें हो सकती है और हृदयकी अज्ञानग्रन्थिका छेदन करानेके लिये अपरोक्ष साक्षात्काररूप परम ज्ञानकी प्राप्ति भी इसी जाग्रत्-अवस्थामें ही हो सकती है—ऐसा समझकर अखण्डशान्तिरूप परम ज्ञानके लिये प्रयत्नशील रहना ही जाग्रत्-अवस्थाका सदुपयोग है। जाग्रत्-अवस्था तो भोगोंको भोगनेके लिये ही है; अतः जब तक जागते रहें, तब तक कुछ न-कुछ भोग

अवश्य करते रहना चाहिये ऐसा मानना जाग्रत् अवस्थाका दुरुपयोग करना है । ऐसा माननेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि जैसे जाग्रत् दुनियाँके भोगोंके निमित्त है, वैसे ही वह दुनियाँकी बदबूसे रहित और दुनियाँसे परे दिव्य भोगके लिये भी है । तात्पर्य कि व्यवहारको परमार्थका अविरोधी बनाते हुऐ परमार्थ प्राप्तिके साधनमें ही जाग्रत्का प्रयोजन है । सुतरां; विचारवान्को चाहिये कि व्यावहारिक भोगोंमें गाफ़ल न होकर परमार्थिक प्रयत्न करनेके लिये सदा सावधान रहै ।

दूसरी स्वप्नावस्था जाग्रत् को भी अपने समान मिथ्या बतलाती है । जैसे जाग्रत् का समस्त कारभार ठीक-ठीक नियम पूर्वक चलता है, स्वप्न में वैसे ही नियमितता नजर आती है; तो भी स्वप्न को राजा–ऋषि सब कोई मिथ्या मानते हैं और जाग्रत् को सत्य समझते हैं । जाग्रत् या स्वप्न में कुछ भी तफावत नहीं है । जिस प्रकार जाग्रत्–अवस्था में आने पर स्वप्नावस्था और स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार स्वप्नमें पहुंचने पर जाग्रत्–अवस्था और जाग्रत के पदार्थ भी मिथ्या ही होते है । आखीर, स्वप्नको मिथ्या क्यों कहा जाता है, इसी लिये ना ? कि वे जाग्रत्में नहीं रहते, काम नहीं देते । स्वप्नके धनसे जाग्रत्का कर्जा नहीं चुकाया जा सकता, कोई भी वन्ध्या स्त्री स्वप्नमें सात-सात सुतोंसे अपनी गोद भले भरले. तो भी जागने पर वह वन्ध्या ही होती है । पुत्र स्वप्नावस्थाके है, प्रतिभासिक हैं और वन्ध्यत्व जाग्रत् अवस्थाका है, व्यावहारिक है । स्वप्नके प्रतिभासिक पुत्रोंसे जाग्रतके व्यावहारिक वन्ध्यत्वका बाध नहीं हो सकता, उसे तो अपने समान जाग्रत्के व्यावहारिक पुत्रोंकी अपेक्षा रहती है । एक अवस्थावाले और समान सत्तावाले पदार्थोंकी ही परस्पर साधक बाधकता हुआ करती है । ठीक इसी प्रकार स्वप्नमें भी जाग्रत्के पदार्थ नहीं रहते, काम

नहीं देते। अन्नसे भरे हुऐ जाग्रत्के भण्डारोंसे स्वप्नकी भूख नहीं भागती; स्वप्नका रोग दूर करनेके लिये जाग्रत्का वैद्य दवाई नहीं दे सकता। रोग स्वप्नका है, प्रतिभासिक है और वैद्य जाग्रत्का है, व्यावहारिक है। जाग्रत्का व्यावहारिक वैद्य स्वप्नके प्रतिभासिक रोगको दूर कैसे कर सकेगा, उसे दूर होनेके लिये तो अपने समान स्वप्नके प्रतिभासिक वैद्यकी ही आवश्यकता होगी। यों जाग्रत् भी स्वप्नके समान ही है, स्वप्नके दृष्टान्तसे जाग्रत्को भी स्वप्नके समान मिथ्या मानना यही स्वप्नावस्थाका फल है। स्वप्नमें जो अनेक प्रकारके दृश्य दीखते हैं, वे संस्कारके आभारी होते हैं। जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही दृश्य दीखा देते हैं। शुद्ध संस्कारवालेको अच्छे दृश्य दीखते हैं और मलिन संस्कार-वालेको खराब दृश्य दीखते हैं—इस प्रकार स्वप्नके दृश्योंकी अच्छाई-बुराईके बिचारोंकी शुद्धि-अशुद्धिका ख्याल आना और मलिन संस्कारोंको दूर करते हुऐ शुद्ध संस्कारोंको वढ़ानेकी कोशीस करते रहना ही स्वप्नावस्थाका उपयोग है। जाग्रतमें सच्ची होनेवाली भावीकी सूचना मात्र देनेवाले स्वप्न होते हैं ऐसा मानना और संस्कारोंका ख्याल न करना स्वप्नका दुरुपयोग है। स्वप्नसे कभी-कभी भावीकी सूचना होने पर भी, वह उसका प्रधान प्रयोजन नहीं हो सकती। स्वव्नका मुख्य फल तो उपर कहा हुआ (स्वप्नके दृष्ठान्तसे जाग्रत्को भी मिथ्या मानना) ही है।

तीसरी सुषुप्ति अवस्था जाग्रत् एवं स्वप्न, दोनोंको मिथ्या होनेकी गवाही देती है जाग्रत्के स्थूल पदार्थ तथा स्वप्नके सूक्ष्म या वासनामय पदार्थ, दोनोंका सुषुप्तिमें अभाव हो जाता है। जाग्रत् और स्वप्नका जगत् प्रत्येक मनुष्यको भिन्न-भिन्न प्रकारका मालूम देता है; सुखी (सुखी भाववाले) को जगत् सुखमय और दुःखीको दुःखरूप दीखता है; परन्तु सुषुप्तिमें एक रूप हो जाता है। गहरी

नींदमें सब भिन्नताओंका अभाव होता है, यह अभाव ही जगत्का सच्चा स्वरूप है। सुषुप्ति बे-हौसी या बे-खबरी की दशा है, इसमें कुछ भी भान नहीं रहता, यही अज्ञान है। 'कुछ भान न रहना' ही जगत्की जड़ है. इसमेंसे शाखाओंके अङ्कुर फूटना स्वप्नका सूक्ष्म जगत् है और वृक्षका फैल जाना जाग्रत्का स्थूल जगत् है। इस प्रकार अज्ञान-मूलक जगत् मिथ्या है। सुषुप्ति यह सूचना देती है कि जाग्रत् और स्वप्न दोनों अभावस्वरूप है; अतः वास्तविक नहीं। ऐसा करना ही सुषुप्ति-अवस्था का फल है और ऐसा अनुभव करते-करते जगत् में मिथ्यात्व निश्चय करना सुषुप्ति का उपयोग है; क्योंकि मिथ्यात्व निश्चय ही ब्रह्म ज्ञान में उपयोगी है। शरीर और इन्द्रियों को आराम देना ही सुषुप्ति का प्रयोजन है-ऐसा मानना सुषुप्ति का दुरूपयोग करना है; क्योंकि आराम सुषुप्ति का गौण उद्देश्य होने पर भी प्रधान प्रयोजन नहीं हो सकता।

मूर्च्छा, मरण, जीवन और समाधि आदि भी शरीर की ही अवस्थायें हैं। बुद्धि आदि का अपने कारण अज्ञान में लय हो जाना समाधि-अवस्था है। पिछली तीन अवस्थाओं से विलक्षण होने के कारण इसे तुरीया कही जाती है, तो मूर्च्छा भी तुरीयातीत कही जा सकती है; क्योंकि सुषुप्ति और समाधि के अभाव में भी जब कभी बुद्धि में बोध नहीं रहता, तो उस संज्ञाहीन बे-होसीकी स्थिति को ही तो मुर्च्छा कही जाती है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीरका वियोग हो जाना ही मरण-अवस्था है और जीवन-अवस्था तो इन सब अवस्थाओं में अनुस्यूत होने से प्रसिद्ध ही है।

मूर्च्छावस्था तुर्यातीत होने पर भी अज्ञानातीत नहीं हो सकती। आखिर, बेहौसी ही तो मूर्च्छा है और अज्ञान से बचने के लिये ही प्रयत्न है; तो फिर

इस मूर्च्छा में, वेहोसी में, तन्द्रा में, आलस्य या प्रमाद में गाफल होकर पड़े रहने से तो अज्ञान से बचना नहीं हो सकता, इस प्रकार मूर्च्छितों की दशा को देखकर मूर्च्छा पर तिरस्कार छूटना ही मूर्च्छावस्था का फल है। मूर्च्छा में वेहोस पड़े हुए को कोई भली-बुरी बातें सुनावे तो हर्ष या क्षोभ कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार निन्दा-स्तुति से बचने का यत्न करना ही मूर्च्छावस्था का उपयोग करना है। जितनी देर मूर्च्छा में पड़े रहें, उतनी देर चिन्ता-फिकर कुछ भी नहीं होती। हाँ, निश्चिन्तता अवश्य रहती है, इस प्रकार चिन्ता से छुड़ानेवाली या निश्चिन्तता को लानेवाली होने के कारण मूर्च्छा भी अच्छी ही है-ऐसा मानना मूर्च्छा का दुरुपयोग करना है। ऐसा माननेवाले मूर्च्छा के फल से वञ्चित रह जाते हैं यही नहीं, विपरीत फल के भागी भी होते हैं; क्योंकि मूर्च्छा गाफलता है और गाफलता ही मौत है—"प्रमादा वै मृत्युः।"

सबसे भयंकर वस्तु तो मौत ही है। मृत्यु के नाम मात्र से मर्त्य काँप जाता है, तो उसके प्रत्यक्ष दर्शनसे—उसकी भेट या मुलाकात हो जाने से होनेवाली व्याकुलता का तो कहना ही क्या? मुमूर्षु प्राणियों की लाचारी या दुर्दशा को देख कर, "हे भगवान्! ऐसी निष्ठुर मौत स्वप्न में भी, दुश्मन को भी न देना"—इस प्रकार मृत्यु के उपर फिटकार बरसना मरणावस्था का प्रयोजन है। मौत पाप का फल है और पाप प्रमाद से होता है; अतः प्रमाद ही मृत्यु है। प्रमाद को छोड़कर पाप कर्म से बचने के लिये सदा सावधान रहना ही मरणावस्था का उपयोग है। "मौत एक अकस्मात है, इसमें पाप-पुण्यका सवाल ही नहीं रह जाता—जैसे गोबर में अकस्मात ही जैसे गोबरमें अकस्मात ही कीड़े पैदा हो जाते हैं और अकस्मात् ही नष्ट हो जाते हैं, वैसेही पृथ्वी आदिक भूतोंके अमुक प्रकारके संमिश्रणसे इस पिण्डमें भी

चेतना उत्पन्न हो जाती है और अकस्मात् ही कुछ खामी आजानेसे नष्ट हो जाती है" ऐसा मानना मरणावस्थाका दुरुपयोग है। ऐसा माननेवाले मरणावस्थाके फलके भागी नहीं हो सकते। वे समझते है कि मर जानेके बाद पाप–पुण्यका भोगनेवाला कोई रहता ही नहीं, मरजाना ही मोक्ष है ऐसी दशामें जीते–जी मौज उड़ा लेना ही जीवनका आदर्श हो जाता है और यह आदर्श ही पुण्य कर्मसे लापरवाह एवं पाप कर्मसे निर्भय कर देता है। सुतराम् जीवनको सुखमय बनानेके लिये पाप कर्मोंसे बचना असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य हो जाता है और सुखमय बननेके बजाय दुःखमय ही बनकर रहता है।

जीवन दुःखमय है। परिणाममें दुःखमय है ही वर्तमानमें भी खाने-खेलने आदिके लिये आवश्यक साधनसाग्रीको जुटानेमें जीवनके अमूल्य समयकी जितनी बरबादी करनी पड़ती है, उसके प्रमाणमें आनन्द बहुत ही कम मिलता है। जिसको एक रुपया कमानेमें आठ घण्टे लगते हैं, उसको वह रुपया खर्चनेमें पूरे आठ मिनिट भी नहीं लगते। जो कुछ थोड़ा-बहुत सुख मिलता है, वह भी निखालिस नहीं होता। यत्किंचित् सुख भोगते समय भी अन्य अनेक दुःख और चिन्तायें घेरे ही रहते हैं। मुख्य एवं सत्य बात तो यह है कि जो कुछ स्वल्पातिस्वल्प सुख मिलता है, वह भी वास्तविक सुख नहीं होता; सुखाभास ही होता है। इस लिये जीवनमें आनेवाले अनिवार्य सुख-दुःखोंको ईश्वरके भरोसे, प्रारब्ध पर छोड़ कर जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंको जीवनका उद्देश्य सफल करनेमें केन्द्रित करना चाहिये-यही जीवनका उपयोग है। "खान-पान और खेल-कूद आदि नहीं है। जब तक जीना, खाते-खेलते ही सुख पूर्वक जीना ओर जिस प्रकार भी हो, मौज़-शोख़ उड़ाना ही जीवनका इद्देश्य है, इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता" ऐसा मानना जीवनका दुरुपयोग करना है ही अनादर

करना भी है। ऐसा माननेवाले लोग आप तो आपने जीवन को सुखमय नहीं बना सकते; दूसरोंको भी अपने विपरीत मन्तव्योंके छिंटोंसे दूषित करते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसे विपरीत भावोंसे बचकर लौकिक जीवनके द्वारा अलौकिक जीवन जीते सीखना ही मानव जीवनका उद्देश्य है। इस लक्ष्यसे प्रवृत्ति करते रहना और अन्तमें इस अलौकिक जीवनमें प्रवेश करके स्हिर होजाना ही मानव जीवनकी सिद्धि या सफलता है। जिस जीवनमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण आदि कुछ भी नहीं है, ऐसे नित्यनूतन जीवनको जीनेका सौभाग्य प्राप्त कर लेनेके लिये ही वह जीवन है। इस अमूल्य जीवनको केवल दुनियांके भोगोंमें ही, भोगोंके साधनोंकी चिन्तामें ही बरबाद कर डालनेके लिये ही मनुष्य पैदा नहीं हुआ है; किन्तु विषय भोगों पर संयमका अंकुश रखते हुऐ चिन्ताओंसे मुक्त होने के लिये पैदा हुआ है पराधीन होकर प्रकृति में पड़े रहने के लिये नहीं—प्रत्युत् प्रकृति पै विजय प्राप्त करने के लिये पैदा हुआ है और जीवन को विशेष समृद्ध बनाने के लिये पैदा हुआ है। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भोग या मौज शौख को जीवन में स्थान ही नहीं है; परन्तु साथ—साथ यह बात भी याद रखने योग्य है कि इन भोगों या मौज-शौख की भी कोई मर्यादा होती होगी। जीवन को मौज—शौख में बरबाद कर डालने की अपेक्षा पारमार्थिक या वास्तविक जीवन के लिये इस व्यावहारिक जीवन को खपा देना कुछ बुरा भी तो नहीं है।

उपरोक्त रीति से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरण और जीवन, इन सब अवस्थाओं का सदुपयोग करके इन्हें सफल बना लेना और इन सबसे परे एवं नवीन अवस्था प्राप्त कर लेना अर्थात् इन सब अवस्थाओं से पर एवं नीत्य-नूतन ब्रह्म मैं हूं—ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। १०१।

श्रेयोऽनुवलनं नैव नैव प्रेयोऽनुधावनम् ।
श्रेयः प्रेयः समाविष्टं परं ब्रह्मास्मि निष्क्रियम् ॥१०२॥

मैं न तो श्रेय के ही फेर में चक्कर काट रहा हूं और न प्रेयके ही पिछे मारा-मारा भागा फिर रहा हूं । मैं तो श्रेयः तथा प्रेयः, इन दोनों को अपने अन्दर पचा लेनेवाला होने पर भी इन दोनों से परे और इन दोनों के लिये की जानेवाली समस्त क्रियाओं से रहित ब्रह्म हो गया हूं । १०२ ।

लालनं पालनं त्रासो राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव मे भाति रम्यं ब्रह्मास्मि सुन्दरम् ॥१०३॥

चूं कि मैं रम्य तथा सुन्दर ब्रह्म हूं, तो मुझे लालन, पालन, त्रास राज्य और कंगालियत, ये सब-के-सब समानरूप से रमणिय ही प्रतीत होते हैं । १०३ ।

न केनापि विरोधो मे सम्बन्धोपि न केनचित् ।
सर्वस्याप्यात्मभूतत्वात् सोहं ब्रह्मास्मि चाद्वयः ॥१०४॥

मेरा न तो किसीके साथ विरोध ही है और न किसीके साथ सम्बन्ध, क्योंकि सब कुछ एक आत्मस्वरूप ही हैं और वह अद्वय आत्मस्वरूप ब्रह्म मैं हूं । १०४ ।

वरदानं न कस्मैचित् शापदानं न कस्यचित् ।
सर्वस्याप्यात्मभूतत्वाद् वरं ब्रह्मास्मि निःस्पृहम् ॥१०५॥

सब कुछ तो आत्मस्वरूप ही है, तो फिर मैं किसको किस चीज का वरदान दूं या किसीसे किसका वरदान लूं और किसको क्या शाप दूं या किससे

क्या शाप लूं । बस, मैं तो इन दोनों की स्पृहा से रहित और इन सबसे वरिष्ठ ब्रह्म ही हूं । १०५ ।

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि जीवन्मुक्तोऽस्मि सर्वथा ।
न चायं विभ्रमः किन्तु सत्यं ब्रह्मास्मि निर्भ्रमम् ॥१०६॥

मैं कृतार्थ हूं, कृतार्थ हो गया हूं; अरे, जीते-जी ही सब तरह मुक्त हो सका हूं । यह कुछ भ्रान्ति मुझे नहीं हो गई है, किन्तु सत्य हकीकत है कि मैं भ्रमरहित ब्रह्म हूं ।१०६।

पूर्वपुण्यवशाल्लब्धः सद्गुरूणां समागमः ।
तेषां कृपालवाल्लब्धा चेयं ब्रह्मास्मि मालिका ॥१०७॥

पूर्वके पुण्यके प्रतापसे सद्गुरुके समागमका लाभ हो गया है और उन गुरुमहाराजकी कृपाकणिकासे यह 'ब्रह्मास्मिमाला' मिल गई है ।१०७।

अवश्यं प्राप्स्यते प्राप्यमभ्यासादेव नान्यथा ।
अभ्यस्तव्या सदा तस्मादियं ब्रह्मास्मि मालिका ॥१०८॥

प्राप्तव्य ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये अभ्यास ही अमोघ एवं असंदिग्ध उपाय है । अभ्यास करते-करते वह ब्रह्म अवश्य प्राप्त हो जायगा, नित्यप्राप्त भी ब्रह्म श्रवण-मननादिरूप अभ्यासके बिना और उपायसे प्राप्त नहीं हो सकेगा, अतः श्रवण-मननके साथ अहंग्रहोपासनारूप इस 'ब्रह्मास्मिमाला' का अभ्यास यथावकाश करते रहना चाहिये ।१०८।

ब्रह्मास्मिमालां परिधाय कण्ठे प्रातश्च यः कोपि जपेद्धि सायम् ।
तद्वस्तु चित्ते प्रयतेत भर्तुं दृष्टञ्च तस्याशु फलं प्रभावात् ॥१०९॥

इस 'ब्रह्मास्मि-माला' को कण्ठमें धारण करके जो कोई भी प्रातःकाल या सायंकाल जाप (पाठ) करेगा और इस मालाके अन्दर वर्णित वस्तुको चित्तमें भरनेका प्रयत्न करेगा; उसको इसके प्रभावसे शीघ्र ही इष्ट फलकी प्राप्ति हो जायगी-यह अनुभव करके देखा गया है। उसे ज्ञानरूपी फल तो मिलेगा ही, ज्ञान होनेके लिये आवश्यक अन्तःकरणकी पवित्रताका सम्पादक पुण्यरूप अदृष्ट फल भी मिल जायगा। आगे-पिछे नहीं, तो कम-से-कम पाठ करते समय ही शान्ति एवं तृप्तिका अनुभव तो होता ही रहेगा और धीरे-धीरे वह स्थायी हो रहेगा ।१०९। ॐ ॐ ॐ ....

सर्वोपि सुखमाप्नोतु सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वस्तरतु संसारं सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

सब कोई ऐहिक सुखको प्राप्त हों; सब कोई अच्छा-अच्छा देखे, सुने और भोगें; सब कोई दुःखमय, दुस्तर संसारको तर जाँय तथा सब कोई सब जगह आनन्दसे रहें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

पुस्तक मिलने का स्थान

हरिकिशनदास अग्रवाल
७४, मरीन ड्राइव बम्बई १.

"वेदान्त सत्संग मण्डल"
प्रेम कुटीर नरिमान पांइट,
मरीन ड्राइव, बम्बई १.

मूल्य एक रुपया
(इस पुस्तक की आय,
'वेदान्त सत्संग मण्डल' बम्बई को दी जायगी)